UNIVERSAL LIBRARY
OU_182620
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 80.1 M 67 H Accession No. H 2563

Author मिश्र, भगीरथ

Title हिन्दी रीति-साहित्य 1956

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी रीति-साहित्य

हिन्दी रीति-साहित्य

डॉ० भगीरथ मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक,
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई ।

प्रथम संस्करण, १९५६

मूल्य : चार रुपये

मुद्रक,
श्री गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली ।

बिनु ही सिखाये सब सीखिहैं सुमति जोपै,
सरस अनूप रसरूप या में धुनि है।

—*सेनापति*

ज्यों-ज्यों निहारिये नीरे ह्वै नैननि,
त्यों-त्यों खरी निकसै ह्वै निकाई।

—*मतिराम*

आगे के कवि रीझिहैं तौ कबिताई न तु,
राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

—*दास*

पंडित और प्रबीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै।

—*ठाकुर*

काव्य सार शब्दार्थ को रस तिहि काव्यै सार,
सो रस बरसत भाव बस अलंकार अधिकार।

—*देव*

लिखत बैठ जाकी सबी गहि गहि गरब ग़रूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे क्रूर॥

—*बिहारी*

क्रम

१. पृष्ठभूमि - - - १

लोकभाषा की परम्परा—रीति-साहित्य के विकास के कारण—परिस्थिति : राजनीतिक, सामाजिक—रीतिकाव्य के सम्बन्ध में—जीवन के ऐहिक पक्ष के विविध रूप।

२. हिन्दी-रीति-शास्त्र - - - २०

'रीति' का तात्पर्य—रीति-शास्त्र की परम्परा—आधार—केशव के पूर्व।

३. अलंकार-सम्प्रदाय - - - २८

अलंकार के आचार्य

४. रस सम्प्रदाय - - - ६४

पूर्व परम्परा

५. ध्वनि-सम्प्रदाय - - - ८६

पूर्व परम्परा—हिन्दी ध्वनि-सम्प्रदाय

६. हिन्दी रीति-काव्य - - - १०५

रीति-काव्य-परम्परा—रीति कवि—भक्तिकाल के अन्य रीति-कवि—रीतिकालीन रीतिकाव्य—रीतिकाव्य की प्रवृत्तियाँ।

७. हिन्दी रीति-काव्य-संग्रह - - - १३७

रहीम—केशवदास—सेनापति—मतिराम—बिहारी—देव—घनानन्द—बेनी प्रबीन—पद्माकर।

पृष्ठभूमि

लोकभाषा की परम्परा

हिन्दी-रीति-साहित्य की प्रवृत्ति उतनी मौलिक नहीं जितनी आवश्यकताजन्य है। संस्कृत में लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा बहुत पुरानी है, पर भाषा में साहित्य का प्रारम्भ उनको लेकर नहीं हुआ, क्योंकि भाषा-साहित्य का उद्भव एवं विकास साहित्यिक प्रेरणा का परिणाम नहीं। भाषा में फूटती हुई कवि-प्रतिभा ने राजाओं और सामन्तों को चमत्कृत किया और उनके संरक्षण और प्रोत्साहन के फलस्वरूप भाषा-काव्य का विकास हुआ। यह विकास इस बात का द्योतक है कि लोक-भाषा को साहित्यिक गौरव से अधिक काल तक वंचित नहीं रखा जा सकता। जो जनता की व्यापक भाषा बन गई उसमें व्यवहारोपयोगी और ललित दोनों ही प्रकार के साहित्य की सृष्टि अवश्य होगी। लोक-भाषा में ज्ञान और अनुभव के प्रकाशन और प्रचार की परम्परा, ईसा की छठी शताब्दी पूर्व ही पड़ चुकी थी, जब कि भगवान् बुद्ध ने अपने ज्ञान और उपदेश की प्रणाली संस्कृत में न ढालकर लोक-भाषा पालि में ढाली थी। उसी परम्परा के विकास के रूप में हम अनेक सन्त-कवियों का भाषा-आन्दोलन देखते हैं। गोरखनाथ के पूर्ववर्ती और समकालीन सिद्धों और नाथों का साहित्य लोक-भाषा-साहित्य है; जिसमें हिन्दी के सन्त-काव्य का आदिम रूप झाँक रहा है। कबीर ने इस परम्परा के अनुरूप ही संस्कृत के स्थान पर—यद्यपि वे स्वयं संस्कृत नहीं जानते थे—भाषा में निहित ज्ञान की सुलभता की घोषणा, इन शब्दों में की थी—'संसकिरत कूपजल कबीरा भाषा बहता नीर' कूप-जल और बहते नीर, दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ और विशेषताएँ भी हैं, इसमें सन्देह नहीं। एक यदि स्वच्छ, सुरक्षित, निर्मल और गंभीर जल का भण्डार है, तो वह श्रम-साध्य है; सर्व-जन-सुलभ नहीं। दूसरा यदि सर्वजन-सुलभ है, तो उसमें वह गंभीरता, वह शीतलता, गुणकारिकता और विकारहीनता नहीं जो पहले में है। परन्तु,

इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि संस्कृत भी यदि कूप-जल न बनकर बहता नीर बना रह पाता तो हमारी अनेक उलझनों को सामने आने का अवसर न मिलता। अस्तु, वह तो इतिहास है। संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के प्रति, भाषा-साहित्य को प्रचार और प्रतिष्ठा मिल जाने पर भी, भाषा-साहित्यकारों के मन में अत्यन्त सम्मान का भाव रहा। भाषा के जन-वाणी होने पर भी उसे सुर-वाणी कहकर उसका आदर रहा और अनेक ग्रन्थों में 'सुरबानी' के ग्रन्थों को 'नरबानी' में प्रकाशित करने का संकल्प मिलता है।

कबीर के विपरीत विद्यापति तो संस्कृत, प्राकृत के विद्वान् थे। 'पुरुष-परीक्षा', 'कीर्तिलता', उनकी दोनों ही भाषाओं के क्षेत्र में कीर्तिस्तम्भ हैं। फिर भी सब जनों को मीठी लगने वाली 'देसिल' भाषा का ही प्रयोग उन्होंने अधिकतर किया, जैसा कि उनके कथन 'देसिल बअना सब मन मिट्ठा' से प्रकट है। यह परम्परा और विचार-धारा बराबर आगे बढ़ती गई और गोस्वामी तुलसीदास तक ने, जो संस्कृत के अत्यन्त ऋणी हैं और जिनकी अगाध श्रद्धा उस भाषा के प्रति है, कहा :—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करे कमाँच॥

उनका मत निश्चित जान पड़ता है कि लोक-भाषा से इतर किसी अन्य भाषा में ज्ञान और साहित्य की सम्पत्ति, व्यर्थ होती है और उस अन्य भाषा का बोझ सब पर डालना व्यर्थ ही होता है। तुलसी के समान जन-मानस की परख रखने वाला कवि कठिनाई से मिलेगा। अतः उसी परम्परा को केशव ने भी अपनाया और 'कविप्रिया' की रचना उन्होंने साहित्यिक परम्पराओं को सर्वजन-सुलभ बनाने के उद्देश्य से की।[1] यह उस कवि का निश्चय था जो संस्कृत से इतर किसी भाषा में लिखना अपनी तौहीन समझता था :—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि सो मंदमति, तेहि कुल केशवदास॥

संस्कृत के वातावरण में पले हुए केशव का भी निर्णय भाषा-काव्य रचने का ही हुआ।

परन्तु, जो प्रवृत्ति कबीर और तुलसी की है, केशव की प्रवृत्ति उससे भिन्न है और उसके विश्लेषण से हिन्दी-रीति-साहित्य के प्रारम्भ और विकास का एक प्रधान कारण स्पष्ट हो जाता है।

१. समुझै बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी समुझि सोधि मत साध॥

रीति-साहित्य के विकास के कारण

'भाषा'[१] में रीति-साहित्य के विकास के अनेक कारण हैं। एक कारण तो संस्कृत में इसकी विशाल परम्परा है, जिसका व्यापक विश्लेषण प्रत्येक काव्य-सम्प्रदाय की परम्परा के साथ आगे किया जायगा। जिस समय भाषा-साहित्य का प्रारम्भ हुआ उस समय भी संस्कृत में लक्षण या अलंकार-साहित्य की रचना चल रही थी। यहाँ तक कि शाहजहाँ के समय में ही तो पंडितराज जगन्नाथ का बृहत् अलंकार शास्त्र पर ग्रंथ 'रसगंगाधर' प्रणीत हुआ था; जब कि हिन्दी में भक्ति-काव्य की अगाध धारा बह रही थी, साथ ही केशवदास की 'कवि प्रिया' 'रसिकप्रिया' और कृपाराम की 'हिततरंगिणी', नन्ददास की 'रसमंजरी' आदि अनेक ग्रंथ निकल चुके थे। 'सुन्दर श्रृंगार' के रचयिता सुन्दर कवि शाहजहाँ के दरबारी कवि ही थे। अतः हिन्दी-रीति-साहित्य के लिए न केवल संस्कृत की पूर्वपरंपरा थी, वरन् समकालीन रचना भी चल रही थी और इसे प्रेरित कर रही थी।

दूसरा कारण भाषा-कवियों को प्राप्त राज्याश्रय है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पठान बादशाहों ने हिंदू-भाषा-कवियों को दरबार में आश्रय नहीं दिया।'[२] उनके दरबार में रहने वाले कवि अधिकांश फारसी के थे और वह परंपरा अकबर के समय तक चलती रही। अकबर ने ही सबसे पहले हिन्दी (भाषा) कवियों को दरबार में आश्रय दिया और हिन्दी-काव्य को प्रोत्साहन मिला। छोटे-छोटे राज्यों में हिन्दू राजाओं के आश्रित भाषा-कवि हो सकते हैं परन्तु प्राचीन काल की परम्परा में तो संस्कृत-कवियों को ही दरबार में प्रधान स्थान प्राप्त था और भाषा-कवि को अत्यन्त गौण; और इन कवियों का कोई लेखा भी नहीं था। वे साधारण चारण या भाट से अधिक सम्मान के भाजन न समझे जाते थे। मेरा अपना निजी विचार यही है कि चन्द-जैसे कवियों का भी उल्लेख संस्कृत के साक्ष्यों में इसी कारण नहीं मिलता, क्योंकि

१. समस्त मध्य युग में हिन्दी को 'भाषा' नाम से ही कहा गया है। अतः यह भाषा हिन्दी भाषा का ही संक्षिप्त रूप है। इसमें हिन्दी शब्द नहीं है और अब हम भाषा को छोड़ चुके हैं। जायसी ने भी इसे भाषा ही कहा है। "आदि अन्त जस गाथा अहै, लिखि भाषा चौपाई कहै।" इस भाषा को ही प्रायः मुसलमानों ने, अपनी खड़ी बोली शैली के लिए विशेषतः हिन्दी नाम दिया था। 'अरबी हिन्दी फारसी तीनों करो खयाल।'

—खुसरो (समय १४वीं शताब्दी)।

२ ईश्वरीप्रसाद: 'मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ २५३।

भाषा-कवियों को संस्कृत-पंडितों द्वारा उस समय तुच्छ और नगण्य समझा जाता था। लोक में भी वे भाट के रूप में ही विख्यात थे और अपनी प्रतिभा का विशेष सम्मान न पाकर, केवल क्षुद्र दान और भिक्षा आदि ही पाते रहे होंगे। कवि की—विशेष रूप से भाषा-कवि की—इसी तौहीनी को ध्यान में रखकर ही हमें उस समय के अधिकांश भाषा-कवियों की प्रवृत्ति भक्ति-मुखी जान पड़ती है। जिसके और भी राजनीतिक और आर्थिक कारण हैं। अतः भाषा-कवियों के राज्याश्रय की परम्परा अकबर के समय से ही पड़ी और जिसकी देखा-देखी, राजपूताना तथा मध्यभारत की रियासतों—ओरछा, नागपुर आदि में, भाषा-कवियों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ और आगे उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही को दरबारों में प्रतिष्ठा मिली। और इसके फलस्वरूप व्यापक रीति-साहित्य की रचना हुई।

राज्याश्रित कवियों ने इस प्रकार की साहित्य-रचना क्यों की? यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका उत्तर आगे आने वाली राजनीतिक परिस्थिति के विश्लेषण में मिलेगा। परन्तु, इसीसे लगा हुआ एक हिन्दी-रीति-साहित्य के विकास का एक तीसरा कारण भी सामने आता है, जो है कवि और काव्य के स्वतन्त्र रूप की प्रतिष्ठा। इस क्षेत्र में केशवदास का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसी कारण उनको आगे के युग में दीर्घकाल तक इतना सम्मान प्राप्त हुआ।

सम्मानपूर्ण राज्याश्रय से कवियों के मन में स्वतन्त्र ऐहिक साहित्य की सृष्टि का भाव जाग्रत हुआ। चारण-साहित्य में गम्भीर साहित्यिक प्रतिभा के विकास का अवसर न था। सदैव राजा की प्रशंसा करके कवि-प्रतिभा के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। साथ ही भक्ति-काव्य के द्वारा सांसारिक जीवन और व्यक्तियों को नितान्त बहिष्कृत करके भी काव्य-प्रतिभा का न तो सम्पूर्णतः उपयोग ही हो सकता था और न सभी कवियों की वृत्ति ही केवल भक्ति-काव्य-सृजन में रम सकती थी। इसीलिए काव्य का एक शुद्ध और स्वतन्त्र मार्ग खोजने की आवश्यकता हुई। यह मार्ग पहले से ही संस्कृत-साहित्य में प्रशस्त था, उसके अवलंबन की आवश्यकता थी। अतः केशवदास ने इस मार्ग को सभी कवियों के लिए खोल दिया। जैसा हम देखते हैं कि छुट-पुट प्रयत्न केशव के पूर्व मिलते हैं, परन्तु इस स्रोत का पूर्णतया उद्घाटन केशव के समय में ही हुआ। रहीम, नन्ददास, केशवदास के समकालीन ही थे और सुन्दर कवि उनके बाद में आते हैं। अतः इस मार्ग के उद्घाटन का श्रेय आचार्य कवि केशवदास को ही मिलना चाहिए जिनके काव्य में आचार्यत्व और कवित्व

का एक साथ पुट वर्तमान है। चिन्तामणि आदि आगे के कवियों ने इसी मार्ग का अनुगमन करके उसे और भी प्रशस्त और सुलभ बना दिया। इस परम्परा को अपनाने से कवि को प्रारम्भ में आश्रयदाता का परिचय और प्रशंसा करनी पड़ी, पर आगे का शेष काव्य स्वतन्त्र रूप से भी लिखे जाने का पूरा अवसर उन्हें मिल गया। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-से कवियों ने अपने आश्रयदाता के गुणों पर रीझकर समस्त उदाहरणों में उसकी प्रशंसा की है, परन्तु ऐसे भी कवि हैं जिन्होंने इस मार्ग से भी अपनी भक्ति-भावना को प्रकाशन दिया है। साथ ही अधिकांश बड़े-बड़े आचार्यों ने स्वतन्त्र रूप से काव्य-विवेचन पर उदाहरण-स्वरूप काव्य की रचना की। इस प्रकार यह रीति-साहित्य, मध्ययुग में स्फुरित हिन्दी-साहित्य की एक नूतन धारा ही थी और हमें इसी रूप में इसे देखना चाहिए।

परिस्थिति

इस प्रकार के काव्य के लिए उस समय उपयुक्त परिस्थितियाँ भी थीं। उस समय के राजतन्त्र में सम्राट् या बादशाह सर्वेसर्वा था।[1] उसकी इच्छा ही कानून थी। किसी भी अभियोग में उसका निर्णय ही अंतिम था, जिसके खिलाफ़ कोई अपील न थी। फाँसी की सज़ा आँखों के सामने दी जाती थी और अपराधी को सख़्त सजा दी जाती थी। अपराध के अनुसार उन्हें

राजनीतिक

१. The Emperor of India is an absolute monarch : there are no written laws, the will of the Emperor is held to be law. Once a week (on Tuesday) he takes his seat on the tribunal and hears patiently all cases that are brought before him, both civil and criminal and pronounces a judgment on each, which is final. Capital punishment is generally inflicted before his eyes and with great cruelty.

Those found guilty are punished with severity, being either beheaded, hung, impaled, or thrown before elephants and other wild beasts, according to the nature of their crime.

The Empire of the Great Mogol by J. S. Hoyland, p. 93 being the translation of De Laets' s "Description of India and Fragments of Indian History"

जंगली जानवर हाथी, शेर आदि के सामने फेंक देना, सिर उतार देना, कुत्तों से नुचवा डालना आदि सजाएँ प्रचलित थीं। वह एकतन्त्र शासन, शक्ति और दण्ड के बूते पर चलता था, और जनता भय और आतंक से पूर्ण थी। गोस्वामी जी ने उस समय की इसी नीति का संकेत नीचे लिखे दोहे में किया है :

गोंड गँवार नृपाल कलि, जवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद अब, केवल दंड कराल॥

ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति को ही प्रसन्न करने से काम पूरा हो जाता है। मनोवैज्ञानिक चित्रण, उक्ति-वैचित्र्य का चमत्कार, आन्तरिक वासना और विलास-प्रवृत्ति को उकसाना आदि उपायों, शक्तिमान् सम्राट् या राजा को प्रसन्न करने के लिए उपयोग में लाना स्वाभाविक था। जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में भेंट[1] आदि के द्वारा प्रसन्न करने की प्रथा थी, उसी प्रकार आलंकारिक विशेषता, उक्ति-वैचित्र्य, नायिका के सौन्दर्य, स्वभाव-चित्रण, शब्द चमत्कार, विलास-वैभव, आदि के वर्णन द्वारा साहित्यिक क्षेत्र में भी प्रभाव डालने का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसीलिए हमें जीवन की गम्भीर विवेचना करने वाला साहित्य इस समय उतना नहीं मिलता, जितना कि चमत्कृत करने वाला। हिन्दी का ही साहित्य ऐसा हो, यह बात नहीं; मध्ययुग के मुस्लिम शासन में फ़ारसी का साहित्य भी हल्का चमत्कारक ही है। तुलसी के बाद जीवन की विशाल व्याख्या करने वाला साहित्य नहीं के बराबर है फिर भी भक्ति-धारा के कारण हिन्दी का रीति-प्रभावित-काव्य भी कोरा हल्का चमत्कारवादी न रहा। शासकों[2] की विलासिता के कारण उन पर विलासपूर्ण साहित्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

राजनीतिक उथल-पुथल और सत्ता एवं वैभव की क्षणभंगुरता ने जीवन के दो अतिरेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता की। एक ने

---

१. No one who has a request to make from the Emperor can gain audience without a gift, which he accepts whatever is to be his decision on the case in question. He frequently even returns such gifts when he does not like them or in order to extort large and better ones.

Empire of the Great Mogol, by J. S. Hoyland, P. 94.

२. "मुसलमानी राज्य के प्रभाव से शासक-वर्ग में विलासिता उत्पन्न होती थी।" 'मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास', ले० डॉ० ईश्वरीप्रसाद, पृ० २३६।

जीवन के प्रति पूर्ण विरक्ति और त्याग का भाव जागृत किया, जब कि दूसरे ने पूर्ण भोग का दृष्टिकोण। जितना भी जीवन है उसका पूरा उपभोग किया जाय; क्योंकि न जाने कब नियति या सम्राट् का कोपभाजन होने से वैभव और जीवन समाप्त हो जाय। अतः ऐहिक काव्य को इस प्रकार का विलासपूर्ण चित्रण करने की प्रेरणा देने में राजनीतिक स्थिति का भी कम हाथ न था।

मध्ययुग का समाज सामन्तवादी पद्धति पर आधारित था, जिसमें सम्राट् शीर्ष पर था; जिसके बाद उच्च वर्ग के अन्तर्गत राजा, अधिकारी और सामन्त थे जिन्हें समाज में विशेष अधिकार और सामाजिक सम्मान प्राप्त थे।[1] सम्पूर्ण देश में मनसबदार और सामन्तों का जाल फैला हुआ था जो अपने-अपने स्थान में राजा थे। लगभग समस्त राजकीय पद इन सामन्तों में वितरित थे। प्रत्येक योग्य और परिश्रमी व्यक्ति राजकीय पद पाने की चेष्टा करता था। शाही नौकरी के अतिरिक्त और नौकरियाँ निम्न स्तर की समझी जाती थीं।···शाही दरबार सुख, समृद्धि एवं शिष्टता और सभ्यता का केन्द्र था, परन्तु उसके बाहर देश के अन्य स्थानों में जीवन दुर्दशाग्रस्त, असन्तोषजनक अतिदयनीय एवं घोर विपत्तिजनक था।[2] उस समय जनसाधारण की दशा, भारत में अत्यन्त शोचनीय थी[3] अतः उनके बीच जो प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे, वे सामन्त, राजा, बादशाह के दरबार में जाने का प्रयत्न करते थे। यही दशा साहित्यकार की भी थी और उसकी कद्र आपत्ति और गरीबीग्रस्त जन साधारण के बीच न हो सकती थी, अतः वह गँवई गाँव का गँवारू वायु-मंडल छोड़कर नगर की ओर जाते थे, जहाँ उन्हें कद्रदाँ मिलते थे। निश्चय ही इन कवियों को आश्रय देने वाले सामन्त, राजा, अमीर या बादशाह की रुचि के अनुसार या उसे प्रभावित करने वाला काव्य लिखना आवश्यक था; जिससे उनकी ऐहिक सन्तुष्टि होती थी और प्रतिभा का भी कम-से-कम एक क्षेत्र में विकास होता रहता था।

---

१. Evolution of Indian Culture, by B. N. Luniya, P. 438.

२. 'मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास', ईश्वरीप्रसाद, पृष्ठ ४९६

३. The condition of the common people in India is very miserable.
De Laet's Description of India and fragment of Indian History (translation), p. 88.

ये अमीर और सामन्त अत्यन्त विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे क्योंकि उनको हर प्रकार की सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त थे, अतः ये आमोद प्रमोद में अपना जीवन व्यतीत करते थे। अपने धन और साधनों का उपयोग वे विलासिता, असंयम, शान-शौकत और ठाठ-बाट में करते थे। उस समय उनकी विलासिता की भावना और दुर्दम्य अद्वितीय थी।[1] विलास-सामग्री का चुनाव अपनी हैसियत के अनुसार था अतः इन अमीरों का हरम या रनिवास विलास का केन्द्र था। एक राजा, अमीर अथवा सामन्त के यहाँ, दो, तीन चार या इससे भी अधिक रानियाँ थीं[2], जिनका काम अपने को अलंकृत करके पति को रिझाना और उसके प्रसन्न होने पर विलास-सामग्री की और वृद्धि करते रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, क्योंकि गृहस्थी के अन्य कामों के लिए अनेक नौकर-चाकर और दास रहते थे। अतः जिस प्रमदा को संत और भक्त कवियों ने सब दुख खानि के रूप में देखा था, वह यही सामन्तों के रनिवासों में रहने वाली प्रमदा थी जो स्वयं विलास, ईर्ष्या काम और वासना के समुद्र में डूबी हुई अपने पति, नायक आदि के लिए स्वयं एक चेतन सजीव विलास की सामग्री बन बैठी थी। अपने हाव-भाव, कटाक्ष, अलंकरण और सजधज से नायक को तथा अपने सहज रूप, गुण, शील, प्रेम से अपने पति को रिझाना

---

१. ईश्वरीप्रसाद : 'मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ ४६३
"The nobles rolled in wealth and comfort and the rich, with abundant resources at their disposal, indulged in luxury and intemperance. This naturally produced vast difference between the standard of the rich and the nobles and that of the common people. The most noticeable factor in this time was the unparalleled sense of luxury".

Evolution of Indian Culture by B. N. Luniya, p. 439

२. "The nobles live in indescribable luxury and extravagance, carrying only to indulge themselves whilst they can, in every kind of pleasure. Their greatest magnifiscence is in their women's quarters, for they marry three or four wives or sometimes more : each of these wives lives separately in her own quarters with her handmaids or slaves, of whom she has a large number according to the dignity or wealth of the household.
The Empire of the Great Mogol translated by J. S. Hoyland, p. 90, 91.

यही उसके जीवन का चरम लक्ष्य था। इसमें सन्देह नहीं कि नारी का यह रूप भी अपना महत्त्व रखता है और वह महत्त्व उस काल में चरम सीमा पर था। सारा समाज उसके रूप और विलास का उपासक था अतः हमारे साहित्य में भी उसका भरपूर वर्णन मिलता है।

इन अमीर और सामन्तों के खान-पान, वेश-भूषा आदि भी विलासिता और सजावट की भावना से ओत-प्रोत थे। कामदार, छपे रेशम और मख़मली वस्त्रों का पहनावा और विविध सुस्वादु व्यंजनों से युक्त भोजन इन अमीरों का साधारण रहन-सहन था। मुसलिम अमीरों की देखा-देखी हिन्दू-सामन्तों में भी इसी जीवन के अनुकरण की लहर फैल गई थी। हीरे-जवाहिरातों और रत्नों से जटित वस्त्राभूषण पहनना अमीरी और सामन्ती का लक्षण था। इस उच्च सामन्ती वर्ग में मदिरा का प्रयोग भी प्रचलित था। वे भी बहुत-सी स्त्रियों और नर्तकियों को अपने रनिवास में रखते थे और इनके रहने के लिए खूब सजे हुए विशाल महल थे।[1] उस समय के जन-साधारण के जीवन में भी इसी प्रकार के सामन्ती विलासपूर्ण जीवन की आकांक्षा जग रही थी, यद्यपि जनसाधारण के जीवन और इस जीवन के बीच घोर विषमता का समुद्र लहरा रहा था। नीचे लिखा पद्माकर का कवित्त उपर्युक्त ऐतिहासिक विवरण से कितना मेल खाता है :

गुलगुलो गिलमें गलीचा हैं गुनीजन हैं चाँदनी हैं चिकैं हैं चिरागन की माला हैं।
पद्माकर कहैं तहाँ गजक गिजा हैं सजी सजै हैं सुराहें औ सुराहिन के प्याला हैं॥
शिशिर के शीत को न व्यापत कसाला तिन्हें जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तानें तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं सुबाला हैं दुशाला हैं विशाला चित्रशाला हैं॥[2]

मुग़लकालीन भारतीय समाज के जीवन के एक पक्ष का ऊपर संकेत किया गया है, जो कि रीति-काव्य के सौन्दर्य और विलासपूर्ण चित्रण को प्रेरणा देने वाला था। परन्तु इसका दूसरा पक्ष जन-साधारण का है। नैतिकता की दृष्टि से जन-साधारण का चरित्र इन विलासी दरबारियों की अपेक्षा कहीं अच्छा था, उस पर भक्ति युग का प्रभाव था। "केवल इसी युग के कारण भारतीय नाश से बच गए अन्यथा उनकी भी रोमनों की-सी दशा होती। हिन्दुओं के धार्मिक आन्दोलन तथा उच्च कवि एवं साधु-सन्तों की कविताओं ने उनके नैतिक स्तर को उच्चतर बना दिया। तुलसी-कृत रामायण तथा अन्य

१. Evolution of Indian Culture by B. N. Luniya, P. 440.
ईश्वरीप्रसाद : 'मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ ४६४.

२. जगद्विनोद।

आचार्यों के उपदेशों ने लोगों को शुद्ध विचारों से परिपूर्ण कर दिया। जितने यूरोपीय यात्री भारत में आये, हिन्दुओं के सदाचार की प्रशंसा करते हैं।'[1]

इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि जन-साधारण में धार्मिक एवं नैतिक चेतना को जाग्रत करने वाली साहित्यिक धारा बराबर बहती रही है। निर्गुण धारा के विभिन्न सम्प्रदायों और पंथों—जैसे कबीर पंथ, दादू पंथ, सतनामी सम्प्रदाय, बाबरी पंथ, शिवनारायणी सम्प्रदाय आदि के कवियों ने निर्धन और निराश जनता के भीतर ईश्वर की अटूट भक्ति और संयम, तप, सत्यता और परोपकार से युक्त जीवन में गहरी आस्था जाग्रत की थी। सगुणोपासक भक्ति-काव्य का भी प्रभाव अंशतः इसी प्रकार का रहा—विशेषतः रामभक्ति शाखा का। कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत समकालीन विलासिता का रंग भी खूब चढ़ गया और रीति-काव्य के भीतर इस कृष्ण-राधा और गोपिकाओं के भाव-चित्रण के बहाने उस युग के अतिऐहिक और विलासपूर्ण जीवन की झाँकी ही प्रस्तुत की गई है। इतिहासकारों का मत है कि जन-साधारण के जीवन में भारतीय आत्मा की विशेषता प्रकट है।[2] जिसने न जाने कितने राजनीतिक तूफानों को अपने सामने आते और जाते देखा, परन्तु जो सदैव उनसे अछूते रहे और जब तूफान निकल गया, तो फिर अपने सहज जीवन-क्रम में संलग्न हो गए। भारतीय साहित्य की इस धारा को कभी कोई भी विक्षुब्ध नहीं कर सका।

---

१. ईश्वरीप्रसाद : 'मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ ५०४, ५०५।

२. The conquerors of India have come in hordes again and again, but they have scarcely touched the soul of the people. The Indian is still, in general, what he always was, in spite of them all; and however forcible the new and unprecedented influences now at work upon an instructed minority, one can with difficulty imagine any serious change in the rooted character and time-honoured instincts of the vast mass of the people : nor it is at all certain that such change would be for the better.

The East bowed low before the blast,
In patient deep disdain;
She let the legions thunder past,
And plunged in thought again.

Medieval India, by Stanley Lane-poole XV Ed. pp. 423-424.

जीवन के प्रति निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही पक्षों का महत्त्व है। इस मध्ययुगीन भारत में हम प्रमुखतया उच्च वर्ग में प्रवृत्ति-पक्ष को देखते हैं। भारत में मध्ययुगीन मुगल शासन के परिणाम-स्वरूप हमें कई बातें जीवन में परिव्याप्त हुई दीखती हैं। प्रथम तो एक केन्द्रीय सुदृढ़ शासक होने से देश के भीतर तुलनात्मक दृष्टि से शान्ति का वायु-मण्डल बन गया। द्वितीय इस शान्ति के अवसर पर जीवन में कला और संस्कृति को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। शिष्ट और सुसंस्कृत व्यवहार का सम्मान बढ़ा। तीसरी बात यह है कि इसी शान्ति और समृद्धि के परिणाम-स्वरूप कला-प्रेम और विलासिता की भावना भी प्रखरता से जाग्रत हुई। जीवन में धर्म—चाहे वह संकीर्ण अर्थ में ही क्यों न हो—को प्रमुख स्थान मिला। इसके अतिरिक्त चौथी बात यह है कि भाषा-साहित्य को राजाओं और सामन्तों का संरक्षण और आश्रय मिला। इन सभी बातों का रीतिकालीन हिन्दी-काव्य पर प्रभाव परिलक्षित होता है।

रीति-काव्य के सम्बन्ध में

युग-चेतना के अनुसार काव्य-सम्बन्धी धारणाएँ बनती और बदलती रहती हैं। उपर्युक्त युग-प्रवृत्तियों का प्रभाव रीति-साहित्य पर पड़ा है, इसमें सन्देह नहीं; फिर भी आज के बदले हुए दृष्टिकोण के आधार पर हम रीति-काव्य और रीतिकालीन काव्य के सम्बन्ध में कुछ भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी देखते हैं जिनका निराकरण करना यहाँ आवश्यक है।

रीतिकालीन काव्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हैं। एक उसे नितान्त हेय और पतनोन्मुख काव्य कहकर उसके प्रति घृणा और द्वेष का भाव जगाता है और दूसरा उस पर अत्यधिक रीझकर केवल उसे ही काव्य मानता है और अन्य रचनाओं—जैसे भक्ति और आधुनिक युग की कृतियों, को उत्तम काव्य में परिगणित नहीं करता। मेरा विचार है कि ये दोनों ही दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण हैं। एक प्रकार के काव्य के प्रति अनुराग और दूसरे प्रकार के प्रति द्वेष-भावना आलोचना की मूलभूत कमजोरी है। आलोचना का वास्तविक कार्य उसके गुण और दोषों का निष्पक्ष विवेचन है। द्वेष का चश्मा लगाकर केवल दोष-ही-दोष देखना अनुचित है। रीतिकालीन काव्य के अन्तर्गत जो दोष लगाये जाते हैं वे हैं—अश्लीलता, समाज को प्रगति प्रदान करने की अक्षमता, आश्रयदाता की प्रशंसा, चमत्कार-प्रियता और रूढ़िवादिता। रीतिकालीन समस्त काव्य को दृष्टि में रखकर जब हम इन दोषों पर विचार करते हैं तो हम कह सकते हैं कि ये समस्त दोष उस युग के काव्य या समस्त रीति

काव्य पर लागू नहीं किये जा सकते। साथ ही इन दोषों में अधिकांश, प्रत्येक युग के काव्य में किसी-न-किसी अंश में पाये जाते हैं।

जहाँ तक अश्लीलता का प्रश्न है, वहाँ तक हम देखते हैं कि वह युग सापेक्ष वस्तु है। एक ही प्रकार का वस्तु-रूप एक युग में अथवा एक स्थिति या अवस्था में अश्लील होता है और दूसरे में नहीं। कालिदास तथा अन्य संस्कृत-कवियों की रचनाओं में शरीर के कुछ अवयवों का काव्य में वर्णन और उल्लेख उन दिनों अश्लील नहीं समझा जाता था, आज वह अश्लील समझा जाता है। पूर्वी द्वीप-समूह और प्रशांत महासागर के कुछ द्वीपों में स्त्रियों के लिए कमर से ऊपर का समस्त खुला या केवल आभूषणयुक्त वस्त्रहीन अंग वहाँ के लिए अश्लील नहीं, पर यहाँ के लिए अश्लील है। इतना ही नहीं चित्र-कला और मूर्ति-कला के अन्तर्गत पिछले युगों के पुरुष और नारी के अनावृत रूपों को हम आज भी अश्लील नहीं मानते, पर काव्य में उनका वर्णन अश्लील मानते हैं। इतना ही नहीं एक अर्थ का शब्द एक भाषा में कहने से अश्लील जान पड़ता है, दूसरी भाषा में नहीं। 'कुच' शब्द अश्लील जान पड़ता है, पर ब्रेस्ट (Breast) कहने में हम अश्लीलता का अनुभव नहीं करते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अश्लीलता सापेक्ष पद है। जिन शब्दों (जैसे, नीवी, नितम्ब, उरोज आदि) और जिन वर्णनों को हम आज अश्लील कहते हैं, उन सबकी परम्परा संस्कृत-काव्य में गहराई के साथ पहले से विद्यमान रही है।

यदि हम हिन्दी-साहित्य की ही परपम्परा को लें तो विद्यापति, सूरदास नन्ददास, जायसी, सेनापति के अनेक वर्णन घोर अश्लील कहे जा सकते हैं और उनके सामने रीतिकालीन वर्णन भी कुछ नहीं। पर हम उसी प्रकार के वर्णन बिहारी, देव, पद्माकर में अश्लील मानते हैं और विद्यापति, सूर, नन्ददास में नहीं। आधुनिक युग के भी छायावादी और प्रगतिवादी काव्य में अनेक चित्र हैं जिन्हें उसी आधार पर अश्लील कहा जा सकता है। अतः सामूहिक रीति से रीति-काव्य पर अश्लीलता की मुहर लगाना अनुचित है। रीति-काव्य के चित्रणों में हेय प्रसंग और चित्रण वे हैं जिनमें काम-शास्त्र के आधार पर वासनात्मक रूप में शास्त्रीय आधार के बहाने रति आदि का सीधा संकेत और खुला वर्णन है। ये प्रसंग अवश्य वर्ज्य हैं। परन्तु भाव-वर्णन के अन्य प्रसंग मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण और चित्रण करके हमारा मनोरंजन करते और मनोवैज्ञानिक अनुभव बढ़ाते हैं।

दूसरा दोष प्रायः यह लगाया जाता है यह काव्य समाज को प्रगति

प्रदान करने में समर्थ नहीं है। रीति-काव्य और कुछ प्रबन्ध-काव्यों में व्यापक जीवन-दर्शन नहीं मिलता, इसमें कोई सन्देह नहीं। रीति-काव्य वास्तव में यौवन का मादक, विलासपूर्ण काव्य है, फिर भी यह उस युग-काव्य की एक प्रमुख धारा है, इसके अतिरिक्त इस युग में भक्ति, नीति, लोक-व्यवहार और शास्त्र को लेकर भी काव्य-रचना हुई है। रीतिकाव्य के बीच-बीच भी ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं जो जीवन का अनुभव और आदर्श बताती हैं। अतः आधुनिक दृष्टि से सामाजिक प्रगति की प्रेरणा प्रदान न करते हुए भी इसमें जीवनोपयोगी तथ्यों का अभाव नहीं है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य और प्रेम-सम्बन्धी आदर्शों का चित्रण इस काव्य की एक दिशा की ओर विशेष प्रगति का संकेत भी करता है।

आश्रयदाता की प्रशंसा में उठी हुई काव्य-स्फूर्ति का सामाजिक तो नहीं परन्तु ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। आश्रयदाता की प्रशंसा कला और काव्य के संरक्षण और आश्रय के कारण भी थी और इसके लिए उनकी उदार भावना सराहनीय है। इन आश्रयदाताओं के घरानों के राजकीय तथा निज के पुस्तकालयों में आज तक उस समय की काव्य-कृतियाँ सुरक्षित रखी जा सकी हैं। अतः यह प्रशंसा नितान्त झूठी नहीं कही जा सकती। ये राज्याश्रय, जिनमें रीतिकालीन कला-कृतियों का विकास हुआ, कवि-प्रतिभा को प्रोत्साहित कर सके, साथ-ही-साथ दूर-दूर से प्रतिभाओं को अपने गुणों और कला-प्रेम के कारण खींच सके। उसकी परम्परा तब से अभी कुछ समय पहले तक चली आई है उस समय शिक्षा का विकास न था।[1] शिक्षा धार्मिक और प्राइवेट कार्य समझा जाता था। जन-मानस भी काव्य और कला के प्रति इतना जागरूक न था, जैसा कि आज है। मुद्रण-यन्त्र भी नहीं थे। अतः ये राज्याश्रय कला और काव्य को संरक्षा और प्रेरणा के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य कर गये हैं, यह हमें मानना पड़ेगा। इन आश्रयदाताओं के द्वारा कवि और कलाकार को सम्मान मिलता था, साथ ही जैसा पहले कहा जा चुका है रीति-साहित्य के विकास के द्वारा प्रतिभा के विकास का एक स्वच्छन्द मार्ग भी खुल गया और सदैव

१. Education was a private concern, a handmaid of religion among the Muhammadans as well as Hindus. The duty of the State to educate its future citizens was not recognised by the Mughal State and naturally, there was no department of education.

—Evolution of Indian Culture by, B. N. Luniya, p. 451.

वे कवि राजा की प्रशंसा करने को बाध्य नहीं हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो राजकीय नौकरियों में आज भी प्रतिभा को राज्य के लिए समर्पित करना ही पड़ता है, फिर उस समय की बात क्या कही जाय। बहुत-से ऐसे भी स्वाभिमानी कलाकार और कवि थे जिन्होंने अनौचित्य के विरोध और समुचित सम्मान के अभाव में, आत्मगौरव को धक्का लगते देखकर अनेक राज्याश्रय छोड़ भी दिये थे; जैसे देव और भूषण।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय रीति-साहित्य की बँधी-बँधाई परिपाटी पर विकास, रूढ़िवादिता नहीं, वरन् अतिशय राज-प्रशंसा से मुक्ति पाने और शुद्ध काव्य लिखने के उद्देश्य को पूरा करने वाला था। रीति-साहित्य के रूप में एक ऐसी परिपाटी का विकास हुआ, जिसके माध्यम से भक्ति, शृंगार, नीति, चरित्र आदि सबका चित्रण किया जा सकता था। रह गया चमत्कार-प्रदर्शन, तो यह उस युग का गुण था। जैसा कि हम पीछे देख आए हैं, वह तड़क-भड़क, वैभव-विलास का युग था; अतः उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कारवादिता की प्रवृत्ति स्वाभाविक थी। यह प्रवृत्ति बहुत-कुछ श्रोताओं की शिक्षा, रुचि और मनोवृत्ति पर भी निर्भर करती है। इसीसे हमें उस समय के काव्य में तात्कालिक प्रभाव डालने वाला शब्द-चमत्कार और शब्दाडम्बर भी खूब मिलता है। परन्तु, आश्चर्य इस बात से होता है कि शब्द-चमत्कार के भीतर अर्थ-गौरव की कमी नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि वह युग प्रतिभा-सम्पन्न कवियों का युग था। चिन्तामणि, भूषण, मतिराम, बिहारी, देव, घनानन्द, दास, पद्माकर आदि इतने अधिक प्रतिभा-सम्पन्न कवि इस युग में एक साथ मिलते हैं जितने अन्य समय में कठिनाई से मिल सकते हैं।

जीवन के ऐहिक पक्ष के विविध रूप

उस रीति-साहित्य के प्रारम्भ और विकास के युग में प्रेम और शृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी खूब काव्य लिखा गया। वीर-काव्य की परम्परा, तो बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है जिसमें भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर चन्द्रशेखर, जोधराज आदि प्रमुख वीरकाव्य के रचयिता हैं और इनकी रचनाओं में ओज और उत्साह का प्रभाव किसी भी युग के काव्य के लिए गौरव की वस्तु है। भक्ति-काव्य की धाराएँ भी बहती दिखाई देती हैं। भक्ति युग को छोड़कर रीति-युग में जगजीवन, यारी, दरिया, पलटू, शिवनारायण आदि निर्गुणोपासक कवि हुए। प्रेममार्गी कवियों की परम्परा

भी नहीं टूटीं। नूरमुहम्मद, निसार, ख्वाजा अहमद, आलम आदि इसी युग की देन हैं। विशुद्ध श्रृंगारी काव्य लिखने वाले देव, बिहारी, पद्माकर आदि सगुण भक्ति से प्रभावित हैं। इसके साथ-ही-साथ नीति, उपदेश आदि पर काफी रचनाएँ मिलती हैं, वृन्द, विक्रम, गिरिधर, दीनदयाल गिरि, बेताल, घाघ, रसनिधि, रसलीन की देन इस दिशा में महत्त्वपूर्ण है। परन्तु रीति-साहित्य का अत्यधिक ज़ोर होने से अन्य धाराओं का काव्य नगण्य पड़ गया।

जैसा कि ऊपर की परिस्थितियों के विश्लेषण से स्पष्ट है रीति-साहित्यकारों का प्रमुख दृष्टिकोण ऐहिक था, भक्ति-धारा के कवियों को छोड़कर अन्य का आध्यात्मिक नहीं, फिर भी संस्कार-रूप में भक्ति के संस्कार विद्यमान् थे। रीति-युग के कवियों ने वास्तविक जीवन में व्याप्त आशाओं, लालसाओं आकांक्षाओं, रूप-तृष्णा, सौन्दर्य, प्रेम, विलास, त्याग, साहस, खीझ आदि का यथातथ्य चित्रण किया है। जो-कुछ भी अत्युक्ति या अतिशयोक्ति है वह आवश्यक चुनाव और अनावश्यक के त्याग के परिणाम-स्वरूप है।

लोक-जीवन के बीच वास्तविक बातों के अनुभव और ज्ञान-संग्रह के रूप में हमें इस युग के काव्य में अनेक ऐसे ग्रन्थ भी मिलते हैं जो राजनीति, काम-शास्त्र, शालिहोत्र (पशु-चिकित्सा), ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक, भोजन-शास्त्र, मांस-पाक, सुरा-पान, मैत्री, संगीत-शास्त्र आदि पर लिखे गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय के साहित्य का यदि पूरा लेख प्राप्त हो जाय तो प्रकट होगा कि ऐहिक साहित्य के प्रति कितनी सजगता इस युग में विद्यमान थी। हस्तलिखित ग्रन्थों के खोज-विवरणों से इस साहित्य के स्वरूप का पता चल जाता है। सुरा-पान की प्रशंसा में अवधूतसिंह ने 'सुरा-पचीसी' (सं० १८४४ में) लिखी थी। जिसका एक छन्द है :

ये कई उदर तै प्रगट है सुधा औ सुरा यैकै रूप यैकै वर्ण सबन बनाई है।
अजर अमर सुधा करत प्रसिद्धि सुरा सुरनर मुनि देव जानि बस दाई है॥
सुधा मधुराई देवलोक मैं अलभ्य सुरा षटरस तीनों लोक सुलभ सदाई है।
सुरन सुहाई गुन स्वाद गरुआई याते सुधा सुरा नाम कै पुरानिनि कहाई है॥

उपर्युक्त छन्द में 'सुधा' और 'सुरा' को एक ही कोटि का ठहराकर उसके प्रति धार्मिक दृष्टिकोण से विरोध के भाव को दूर किया है। साथ-साथ युगानुकूल ऐहिक भोग-भावना की दृष्टि भी अन्य छन्दों में प्रकट हुई है। इसी प्रकार हुक्के की भी प्रशंसा का एक छन्द देखिए :

तौर ते याके न तौर है और सुवास ते याके न और सुवास है।
याके अनादर ते न अनादर आदर याके न आदर कासु है॥

धीरता धीरज साहस सील उदारता औ प्रभुता को निवासु है।
अष्टऊ सिद्धि नऊ निधि के सुष हुक्कहि देखत पावत आसु है॥

यह मस्ती-भरे यथार्थ जीवन की एक झलक प्रस्तुत करता है। इस 'हुक्का-प्रशंसा' को पढ़कर यह कहा जा सकता है कि आज के यथार्थवादी युग में भी सिगरेट के विज्ञापन में आये दृष्टिकोण की अपेक्षा यह अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण है। हास्य-विनोद की प्रच्छन्न भावना के साथ लिखने वाले की सच्ची अस्था की सराहना करनी ही पड़ती है।

ऐसे ही मृगया-प्रशंसा, रत्न-परीक्षा, पक्षी-वर्णन आदि के प्रसंग भी जीवन के प्रत्यक्ष रूप को स्पष्ट करते हैं, परन्तु इतना अवश्य देखने को मिलता है कि इनके वर्णन में कवि दृष्टि-प्रधान हैं। पक्षी-विलास पर अनेक कवियों ने लिखा है जिसमें विविध पक्षियों के स्वरूप का ही संकेत नहीं, वरन् उनके प्रमुख गुण, विशेषतया परम्परागत साहित्य में सुरक्षित महत्त्व का संकेत भी है, जैसा कि हम नीचे छन्दों में देखेंगे :

शुक : सुख बालपने को भयो सपनो सुख मात-पिता के न संग चरो।
जग जीवनहू को न स्वाद मिलो जुवती उन्माद सों बाद हरो॥
पन तीजे में तू अपने मन में गुरुदत्त कहा धौं गरूर करो।
अब टेक यही कत यों सुकजू भजो राम अजौं पिंजरा में परो॥

पतोई : छोटे से डील की चंचलता अरु खोटे सुभाइन सील सौ भारी।
बाजु सुपेद औ स्याम सबै तनु चित्र लिखी सी विचित्र विचारी॥
साँझ समै उड़िबे की उमंग सों अंग में नेकी कछू न निहारी।
द्वारनि द्वारनि रोइबे की यह खोइ छुटी न पतोइ तिहारी॥

सुरखाब : लेखत पुष्ट तिहूँ पन तेखत देखत दुष्टन के उर दागे।
भूपुर में फरके पर ऊपर ह्वै तनहू मनहू अनुरागे॥
भाव-भरे ध्रुवलोक लौं धावत चाउ भरे अगवाउ के लागे।
पच्छिन के उड़िबे की उमंग की ताव नहीं सुरखाब के आगे।[१]

उपर्युक्त वर्णनों में पक्षियों के यथार्थ रूप-गुण के चित्रण के साथ अन्योक्ति-द्वारा जीवन का संकेत भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जीवन में ऐहिक दृष्टिकोण की प्रधानता रीति-साहित्य के अन्तर्गत भी अभिव्यक्त हुई है। अलंकार, रस, शृंगार, नायिका-भेद आदि के वर्णन में यथार्थतः मनोदशाओं का विश्लेषण, विविध अवस्थाओं के स्वभाव-चित्रण, मनोभावों—जैसे अभिलाषा, खीझ, रोष, प्रेम, ईर्ष्या आदि का बड़ी सुघराई

१. गुरुदत्त-कृत, 'पक्षी विलास'।

के साथ वर्णन मिलता है। इस कथन के प्रमाण में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। यौवन के विकास के साथ-साथ रूप का प्रभाव गहरा और बहुमुखी हो जाता है। विभिन्न लोगों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, इसका संकेत मतिराम के एक दोहे में देखिए :

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति॥

जीवन की विभिन्न मनोदशाओं का यथार्थ चित्रण काव्य की रोचकता का एक रहस्य है। हम अपने ही भावों को इन चित्रणों में प्रतिबिम्बित पाते हैं। मतिराम के ही एक छन्द में हृदय के गहरे अनुराग को प्रकट करने वाली अभिलाषा का रूप कितना निखर आया है :

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिय पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव गँवार मैं कैसक जीजै॥
होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै जनमाल हिये लगिये, अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै॥

मिलन की यह पावन अभिलाषा कितनी स्पृहणीय है। इन चित्रों में जीवन का भव्य, शुचि रूप प्रकट हुआ है; जो श्रृंगार की विशेषता है।[1] रीतिकाव्य के अन्तर्गत न जाने ऐसे कितने ही सहज, स्वाभाविक और मनोहारी भावों के चित्र मिलते हैं जो इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि जीवन का यथार्थ रूप इन कवियों ने अपनी आँखों से देखा था और उसी अनुभव के आधार पर ये चित्रण हैं। देव के द्वारा चित्रित उत्कण्ठा का एक सजीव चित्र नीचे के कवित्त में कितना उभरा है :

खरी दुपहरी हरी भरी फरी कुञ्ज मञ्जु गुञ्ज अलि पुञ्जन की देव हियौ हरिजात।
सीरे नद नीर तरु सीतल गहीर छाँह सोवैं परे पथिक पुकारैं पिकी करिजात।
ताही मैं किसोरी भोरी कोरी कुँभिलाने मुख पंकज से पाय धरा धीरज सों धरिजात।
सोहैं घनस्याम मग हेरति हथेरी ओट ऊँचे धाम वाम चढ़ि आवति उतरि जात।

इस प्रकार के दृश्य दृष्टि और अनुभूति से उलझते हुए चलते हैं।

इन अनेक मनोभावों के चित्रण में सामाजिक संकेत भी मिलते हैं। पारिवारिक बन्धन, सामाजिक परम्पराएँ और वैयक्तिक शील आदि के कारण जीवन के दैनिक कार्यक्रम में प्रिय के सम्पर्क का अवसर बहुत कम प्राप्त होता था। इसलिए अनेक छन्दों में इस सम्पर्क की उत्कट अभिलाषा के भाव

१. यत्किंचिल्लोके शुचिर्मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्सर्वं श्रृंगारेणोपमीयते।
—भरत (नाट्यशास्त्र)।

प्रकट हुए हैं। परन्तु इस प्रकार के भावों के प्रकाशन में विदग्धता और चतुराई रीति-काव्य की निधि है। बिहारी और मतिराम के नीचे के छन्दों में इस प्रकार के चित्रण के नमूने मिलेंगे :

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचतहू चलि जाहिं॥
बतरस लालच लाल के, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहन हँसै, देन कहै नटि जाय॥ (बिहारी)

× × ×

आई हौ निपट साँझ गैया गई घर माँझ हातै दौरि आई कहै मेरो काम कीजिये।
हौं तौ हौं अकेली और दूसरो न देखियत बन की अँध्यारी सों अधिक भय भीजिये॥
कवि मतिराम मनमोहन सों पुनि-पुनि, राधिका कहति बात साँची कै पतीजिये।
कब की हौं हेरति न हेरे हरि पावति हौं, बछुरा हिरान्यौ सो हेराय नैक दीजिये॥
(मतिराम)

ऊपर दिये गए समस्त रूपों से यह प्रकट होता है कि हिन्दी-रीति-साहित्य ने युग की कवित्व-दृष्टि विकसित की, जिससे समाज में काव्याभिरुचि जागृत हुई और कवि को भी अपनी प्रतिभा का समादर मिला। इस रीति-साहित्य के विकास के साथ-साथ काव्य की अन्य धाराएँ समाप्त हो गई हों, ऐसी बात नहीं। वे चलती रहीं, वरन् उनमें भी अधिक काव्यत्व आया। समाज का जो अंश इन रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसके भीतर न केवल एक शिष्टता और संस्कृति का ही विकास हुआ, वरन् एक सौन्दर्य की दृष्टि का भी विकास हुआ। मानव-जीवन की विविध अवस्थाओं, प्रकृतियों और परिस्थितियों के सौन्दर्य का चित्रण शास्त्रीय ढंग पर तो हुआ ही, प्रकृति के सौन्दर्य को पहचानकर उसमें भी मानव-सौन्दर्य और भावों का आरोप हुआ। ऋतु-वर्णन, नख-शिख-सौन्दर्य-चित्रण, उद्दीपन आदि में प्रकृति के सुन्दर और मुग्धकारी रूप सामने आये। सेनापति, देव, बिहारी, मतिराम आदि के छन्द तो इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं ही, द्विजदेव का एक छन्द देखिए :

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के, मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्यों ही मधुमारन अपारन सों, नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैननि निहारौं तौ निहारौं कहा, सुषमा अभूत छाय रही प्रतिभौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चन्द, गन्धही के भारन बहत मन्द-मन्द पौन॥

रूप और शोभा के कारण ही गति तथा मुद्रा में और अधिक सौन्दर्य

आ गया है, यह उस युग की रूप-पारखी दृष्टि ही अनुभव कर सकती थी। आज के व्यस्त-जीवन के हाहाकार में इस प्रकार की कोमल अनुभूतियाँ जैसे कुचल गई हों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-रीति-साहित्य का जिन परिस्थितियों में विकास हुआ उनका पूरा प्रभाव आत्मसात् करके भी इस साहित्य की अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक देन है। इस साहित्य ने अन्य साहित्यिक धाराओं पर प्रभाव अवश्य डाला, पर किसी का मार्ग अवरुद्ध नहीं किया। यही नहीं अन्य धाराओं को भी अपने क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया।

काव्य को सदैव हम स्थूल उपयोगिता की कसौटी पर ही नहीं आँकते। जीवन के व्यस्त संघर्षों के बीच वह हमारे हृदय और मन को कितना मुक्त और निर्बंध कर सकता है, यह उसकी मूल्यांकन की सबसे बड़ी कसौटी है। रीति-साहित्य बालकों और किशोरों का साहित्य नहीं प्रौढ़ों का साहित्य है, जिन्होंने जीवन के अनुभव और साहित्यिक अभिरुचि का एक स्तर प्राप्त कर लिया है, वही उसके मूल्य को समझने की सामर्थ्य रखते हैं। वह हमारी भौतिक उपयोगिता से अधिक सम्बन्धित इसलिए नहीं है कि उसकी प्रेरणा सामाजिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक, नैतिक आदि में से कोई न होकर शुद्ध साहित्यिक है। यौवन-सौन्दर्य और प्रेम के विविध रूपों का चित्रण कवियों के जीवन के प्रति अदम्य अनुराग और गहरी आस्था का द्योतक है। अतः हमें उस साहित्य को संकीर्णता से नहीं साहित्यिक उदारता से देखना चाहिए जिससे केवल आम और अमरूद की उपयोगिता से प्रभावित लोगों के लिए बिहारी को फिर यह न कहना पड़े कि

'फूल्यो अनफूल्यो रह्यो गँवई गाँव गुलाब।'

हिन्दी-रीति-शास्त्र

'रीति' का तात्पर्य

रीति-शास्त्र और रीति-काव्य का जो वास्तविक अर्थ है उससे कुछ भिन्न और विशिष्ट अर्थों में हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत इन शब्दों का व्यवहार हुआ है। मूलतः रीति-शास्त्र का अर्थ रीति-सिद्धान्त-सम्बन्धी चर्चा करने वाला शास्त्र है। रीति विशेष प्रकार की चमत्कारपूर्ण रचना है,[1] जो आगे चलकर कुछ संस्कृत-काव्य-शास्त्रियों, जैसे वामनादि द्वारा उसी प्रकार काव्य की आत्मा मानी गई जिस प्रकार रस और ध्वनि। ऐसी दशा में रीति-शास्त्र के अन्तर्गत केवल उन्हीं ग्रन्थों की चर्चा होनी चाहिए थी जिनमें रीति को काव्य की आत्मा मानकर काव्य के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। परन्तु हिन्दी-साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य के उत्तर-माध्यमिक काल को 'रीतिकाल' की संज्ञा प्रदान करते हुए रीति को अधिक व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने रीति या मार्ग को काव्य-रीति या काव्य-लक्षण के रूप में ग्रहण करके उस काल को रीति-काल कहा है, जिसमें इस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थों के लिखने का ही प्रमुखतया प्रयत्न देखने को मिलता है। ऐसी दशा में रीति-शास्त्र के अन्तर्गत केवल रीति-सिद्धान्त की चर्चा करने वाले ग्रन्थ ही नहीं, वरन् उन सभी ग्रन्थों का समावेश हो जाता है जिनमें काव्य के लक्षण देने का प्रयत्न किया गया हो, वे चाहे अलंकार-ग्रन्थ हों, चाहे रस, वक्रोक्ति और रीति-ग्रन्थ हों, सभी को सामूहिक रीति से रीति-ग्रन्थ ही कहेंगे। अतः रीति-शास्त्र का तात्पर्य उन लक्षण देने वाले या सिद्धान्त-चर्चा करने वाले ग्रन्थों से है जिनमें अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के स्वरूप, भेद, अवयव आदि के लक्षण दिये गए हों। ऐसे ही रीति-काव्य उस काव्य को कहेंगे जिसमें अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति आदि के उदाहरण के रूप में या

१. विशिष्टा पदरचना रीतिः—काव्यालंकार सूत्र, १, २, ६।
 रीतिरात्मा काव्यस्य ,, १, २, ७।

इनका ध्यान रखकर काव्य लिखा गया हो, इनके लक्षण चाहे न भी दिये गए हों। हिन्दी में, विशेष रूप से रीति-काल में लिखे गए ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें इन काव्य-सिद्धान्तों में एक या अनेक सिद्धान्तों के या उनके किन्हीं अवयवों या भेदों के लक्षण देकर फिर उनके उदाहरण दिये गए हैं। इन ग्रन्थों का हम रीति-शास्त्र के भीतर ही अध्ययन करेंगे, क्योंकि उनमें लक्षण भी दिये गए हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनकी रचना स्वच्छन्द अथवा चरित्र-प्रधान न होकर इन लक्षण-ग्रन्थों की-सी परिभाषाएँ दिये बिना ही किसी एक या अनेक सिद्धान्त या उसके अवयवों या भेदों के लक्षणों को दृष्टि में रखकर केवल उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। उन्हें हम रीतिकाव्य-सम्बन्धी ग्रन्थ कहेंगे। साथ ही लक्षण-ग्रन्थों में भी उदाहरण रूप कवि की स्वरचित रचनाएँ रीति-काव्य के अन्तर्गत आ जाती हैं।

रीति-शास्त्र की परम्परा

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रीति-शास्त्र या रीति-काव्य लिखने की परम्परा हिन्दी को संस्कृत-साहित्य से प्राप्त हुई। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के पाँच काव्य-सिद्धान्तों में से प्रायः सभी का कुछ-न-कुछ प्रभाव हिन्दी-रीति-शास्त्र पर पड़ा है। परन्तु जहाँ तक शास्त्रीय विवेचन का प्रश्न है वहाँ रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्तों के आधार पर अधिक नहीं लिखा गया। अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण देने का सामान्यतया प्रयत्न देखने को मिलता है। इन सिद्धान्तों का भी विवेचनात्मक निरूपण कम हुआ है। रस के अन्तर्गत नायिका-भेद और शृंगार रस को लेकर चलने वाले ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। समस्त रसों का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं। अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने का सबसे अधिक प्रयत्न हुआ है, परन्तु उनका लक्षण भाग बहुत अधिक शुद्ध, पूर्ण और स्मरणीय कम है, अधिकांशतः अलंकार का रूप लक्षण से उतना स्पष्ट नहीं होता जितना उदाहरण से। इसी प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी सामान्यतः शब्द-शक्ति से प्रारम्भ करके रस और अलंकारों पर समाप्त करने वाले ग्रन्थ ही अधिक हैं। ध्वनि-सिद्धान्त की पूरी व्याख्या और विस्तृत निरूपण करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। इस प्रकार से हम देखते हैं कि हिन्दी के रीतिशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य-शास्त्र से अपना परिचय प्रकट करना, लक्षण की धारणा के आधार पर सुन्दर हिन्दी-काव्य-रचना द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करना, और इस प्रकार शास्त्रीय प्रणाली पर कविता लिखना इन लेखकों का प्रमुख ध्येय जान पड़ता है, साहित्य-शास्त्र के विविध अंगों

तथा रूपों का विद्वत्तापूर्ण शास्त्रीय ढंग से विवेचन और निरूपण करना नहीं।

इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि हिन्दी में रीति-शास्त्र लिखने वाले कवियों के पूर्ववर्ती तथा समकालीन संस्कृत के ऐसे विद्वान् आचार्य थे जिन्होंने काव्य-शास्त्र के एक या अधिक अंगों को लेकर उनकी बड़ी ही विस्तृत और स्पष्ट व्याख्या की थी। ऐसी दशा में हिन्दी-कवियों के सामने कोई ऐसी नवीन सामग्री नहीं थी जिसके आधार पर वे संस्कृत के विद्वानों की विवेचना को आगे बढ़ाते। दूसरा कारण यह था कि हिन्दी में लिखने वाले सभी काव्य-शास्त्री संस्कृत-साहित्य के पूर्ण विद्वान् भी नहीं थे। अतएव ऐसे लेखकों ने जो थोड़ा-बहुत पठित और श्रुत ज्ञान प्राप्त किया था उसीके आधार पर कुछ अपूर्ण-से लक्षणों को देकर रीतिशास्त्रीय प्रणाली पर लिखने का प्रयत्न किया। ऐसे लोगों का कार्य इन लक्षणों के सहारे प्रायः अपनी कवित्व-प्रतिभा को ही प्रदर्शित करना था।

तीसरा कारण यह था कि जिन लोगों के लिए ये ग्रन्थ निर्मित किये जा रहे थे वे स्वयं बहुत कम मात्रा में शास्त्रीय थे और इस विवेचन में रुचि रखते थे। वे अपने मनोरञ्जनार्थ हिन्दी-काव्य चाहते थे। बहुधा रीति-शास्त्रीय ग्रन्थ राज्याश्रय में लिखे गए हैं और लेखकों का उद्देश्य आश्रयदाता को प्रसन्न करके उसकी कृपा का पात्र बनना था, अतः अधूरे लक्षण देकर उनको स्पष्ट करने वाले उदाहरणों में अधिकतर आश्रयदाताओं की प्रशंसा भरी रहती थी अथवा वर्णन में कुछ इस प्रकार की रसिकता और मनोरञ्जन का भाव रहता था जिससे कवि की ख्याति भी हो सके और दरबार में उसकी आवश्यकता भी बनी रहे। इसके परिणाम-स्वरूप उदाहरणों में कवित्व-चमत्कार तो देखने को मिलता है, परन्तु लक्षणों में गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान का तथ्य नहीं है। चौथा कारण यह है कि इसके पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य की जो धाराएँ थीं, उनमें से कोई शुद्ध काव्य की धारा नहीं कही जा सकती थी। इन धाराओं के अन्तर्गत या तो कवि वीरों और राजाओं की गुण-गाथा का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करता था अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से भक्ति, उपदेश आदि से सम्बन्धित रचनाएँ करता था। शुद्ध और स्वच्छन्द कवि इन दोनों धाराओं में अपनी रुचि का प्रकाशन पा ही जाय, यह सदा सम्भव नहीं। अतः इस शुद्ध काव्य-शास्त्रीय प्रणाली पर काव्य-रचना की पद्धति डाली गई, जिसमें प्रत्येक प्रकार की रुचि रखने वाले को भी अपने मनोनुकूल काव्य-रचना का अवसर मिला। इसीलिए रीति-काल में इस प्रणाली का स्वागत हुआ। परन्तु प्रायः लोगों ने

अपने कवित्व-प्रदर्शन के हेतु ही इसको अपनाया है, मौलिक तथा गम्भीर शास्त्रीय विवेचन के हेतु नहीं। इसलिए हमें इन ग्रन्थों में गहरी शास्त्र-चर्चा देखने को कम मिलती है।

आधार

हिन्दी के रीति-शास्त्र का आधार पूर्ण रूप से संस्कृत-काव्य-शास्त्र है। परन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में रीति-शास्त्र लिखने वाले प्रत्येक लेखक ने संस्कृत-काव्य-शात्र का पूरा अध्ययन किया था या किसी ग्रन्थ को पूर्णतया हिन्दी में उतारा था। प्रायः अपनी योजना के अनुकूल हिन्दी-रीति-शास्त्र के लेखक ने अपने आधारभूत ग्रन्थ का पठित या श्रुत ज्ञान प्राप्त किया था। इस कार्य के लिए जिन संस्कृत ग्रन्थों का अधिकांश आधार लिया गया है, वे ग्रन्थ हैं, भरत का 'नाट्यशास्त्र', भामह का 'काव्यालङ्कार', दण्डी का 'काव्यादर्श', उद्भट का 'अलङ्कार सार संग्रह', केशव मिश्र का 'अलङ्कार शेखर', अमरदेव की 'काव्य-कल्पलतावृत्ति', जयदेव का 'चन्द्रालोक', अप्पयदीक्षित का 'कुवलायानन्द', मम्मट का 'काव्य प्रकाश', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', भानुदत्त के 'रसमञ्जरी', 'रसतरङ्गिणी', विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' आदि। इनमें से केशव तथा कतिपय अन्य परवर्ती कवियों ने प्रायः छः ग्रन्थों का आधार अधिक लिया है तथा अन्य कवियों ने अपने प्रति विषय के अनुसार अन्य ग्रन्थों का। जिन हिन्दी के आचार्यों ने केवल अलङ्कार पर लिखा है, उन्होंने प्रायः 'चन्द्रालोक' या 'कुवलयानन्द' का आधार प्रमुखतया ग्रहण किया है। जिन्होंने ध्वनि को लेकर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है उन्होंने मम्मट के 'काव्य प्रकाश' का विशेष रूप से आधार ग्रहण किया है। रस और नायिका-भेद पर लिखने वाले ग्रन्थों का अधिकांश आधार 'रसमञ्जरी', 'रसतरङ्गिणी', 'साहित्य-दर्पण', 'नाट्यशास्त्र' आदि ग्रन्थ हैं, परन्तु इनका आधार ऊपर लिखे गए काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ होने पर भी उनके लक्षण से इनका लक्ष्य प्रायः भिन्न-सा ही है। संस्कृत के सब ग्रन्थों का तो नहीं, पर अधिकतर ग्रन्थों का लक्ष्य विषय सिद्धान्त को पूर्ण स्पष्ट करके उदाहरणों-द्वारा अपने विषय की पुष्टि करना है, जबकि हिन्दी के ग्रन्थों में प्रायः उद्देश्य लक्षण या प्रतिपादन को जैसे-तैसे चलता कर देना, परन्तु उसके अनुकूल ललित हिन्दी रचना को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करना है। अतः दोनों के प्रयत्न में अन्तर होने से परिणाम में भी अन्तर देखने को मिलता है।

कुछ भी हो, रीति-शास्त्र पर लिखे गए हिन्दी-ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है और प्रारम्भ से लेकर अब तक लिखे गए समस्त ग्रन्थों का लेखा उपस्थित

करना कठिन है, क्योंकि प्रथम तो बहुत-से ग्रन्थ ऐसे हैं जो प्रसिद्ध हैं और एकाध बार प्रकाशित भी हुए, परन्तु उसके पश्चात् ऐसे लुप्त हुए कि अब अप्राप्य हैं, द्वितीय बहुतेरे ग्रन्थ केवल हस्तलिखित रूप में रहे, वे कभी छपे नहीं; और महत्त्वपूर्ण होने पर भी अब देखने को नहीं मिलते। वे ग्रन्थ कहीं निजी पुस्तकालयों या राज-पुस्तकालयों के पुराने बस्तों की ही सम्पत्ति बन रहे हैं और मनुष्य की विवेकपूर्ण आँखों की अपेक्षा उनका सम्पर्क दीमक और चूहों से ही अधिक होता है। तीसरे कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनका हल्दी-मिर्च की पुड़िया बनकर रूपान्तर हो गया है और हो रहा है। वे इस व्यापारिक युग में अपने आश्रयदाताओं की गुण-ग्राहकता और उदारता पर उन्हें धन्यवाद देते हैं। चौथे, कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं, जो हैं तो सुरक्षित, पलटे और पढ़े भी जाते हैं; पर ऐसी वस्तु समझे जाते हैं जिस पर संसार की, और विशेषकर समालोचकों की, आँख पड़ते ही नज़र लग जाने का भय हो। अतएव वे घर के कोनों, तहखानों या मन्दिरों में अचल, अडिग और स्थान-मोही देवताओं की भाँति ही पूजा पाते हैं। वे भाग्यशाली अवश्य हैं, पर संसार उनसे लाभ किस प्रकार उठावे, यह समस्या है। इस प्रकार प्रचुर सामग्री ऐसी है जिसका अभी तक या तो पता ही नहीं है और पता है भी तो उसका उपयोग करना कठिन और किन्हीं-किन्हीं दशाओं में असम्भव है। फिर भी जो प्राप्य और देखे-सुने ग्रन्थ हैं, वे भी कम संख्या में नहीं हैं और उन्हींके आधार पर हिन्दी-रीति-शास्त्र का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

हिन्दी के पूर्ववर्ती अपभ्रंश-साहित्य में रीति-शास्त्र की परम्परा नहीं। दो-एक ग्रन्थ, छन्द-व्याकरण आदि पर अवश्य हैं, तथा कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें गौण रूप से किसी ग्रन्थ के बीच में नायिका-भेद, शृंगार आदि का विवेचन है,[1] परन्तु जिस प्रकार भक्ति और वीर-गाथा-वर्णन की धाराएँ पहले से आई हैं, उस प्रकार रीति-शास्त्र की परम्परा अपभ्रंश में नहीं मिलती। इसकी प्रेरणा देने वाला संस्कृत-साहित्य ही है और इस परम्परा को हिन्दी में डालने वाले प्रमुख व्यक्ति आचार्य केशवदास ही हैं। केशव का महत्त्व इस दृष्टि से ही अधिक है कि उन्होंने शुद्ध काव्य की परम्परा रीति-शास्त्र या रीति-काव्य-रचना का मार्ग खोलकर डाल दी। आश्रयदाता या आराध्य का गुण-गान किये बिना इसके आदर्श को लेकर काव्य-रचना की जा सकती है और जिसे कई काव्य-रसिक रुचिपूर्वक पढ़ सकते हैं, इसे स्पष्ट करने का श्रेय

१. विस्तृत सूचना के लिए देखिए, 'हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास' (भगीरथ मिश्र) पृ० ४६.

अलंकार रखे हैं, पर उनमें कोई नवीनता नहीं। केवल एक भेद-मात्र ही यह 'भाविक' अलंकार कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में भाविक छवि इसी रूप में मिलती है।[1] मतिराम के लक्षण इनके लक्षणों से अधिक अच्छे हैं। हाँ इनके उदाहरण अधिकांश वीर-भाव के हैं, यह इनकी मौलिकता अवश्य है, जो भूषण को कवि-समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान और गौरव प्रदान करती है।

आचार्य कुलपति ध्वनि और सुखदेव तथा देव प्रमुखतः रस-सिद्धान्त पर आस्था रखने वाले व्यक्ति हैं, पर इन्होंने अलंकार का खण्डन नहीं किया है। देव के 'काव्य-रसायन' में अलंकारों का वर्णन विस्तार के साथ है। इसमें अर्थालंकार के दो भेद हैं:—मुख्यालंकार तथा गौण मिश्रालंकार। प्रथम वर्ग में रसवत् अलंकारों का भी वर्णन है। कुल मिलाकर ८० अलंकार और उनके भेदों का विवरण है। इन्होंने सन्देह अलंकार के अतिरिक्त एक अलंकार संशय अलग रखा है। जहाँ उपमा देने में अनिश्चय रहता है वहाँ संशय माना गया है। भूषण के 'भाविक छवि' की भाँति इसे भी मुख्य अलंकार का एक भेद ही मानना अधिक उपयुक्त है, सर्वथा एक अलग अलंकार मानना उपयुक्त नहीं।

गोप—अलंकार के क्षेत्र में कुछ कम प्रसिद्ध आचार्य कवियों के ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और विशेष रूप से वे, जिनमें केवल अलंकारों का ही निरूपण हुआ है। सन् १७१६ ई० तथा उसके आस-पास ओरछा नरेश पृथ्वीसिंह के आश्रय में लिखे गए गोप कवि के तीन ग्रन्थ हैं—रामालंकार, रामचन्द्रभूषण और रामचन्द्राभरण। ये ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर हैं। प्रथम दोहार्द्ध में लक्षण और द्वितीय में उदाहरण दिये गए हैं। संक्षेप में होने पर भी लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हैं। गोप कवि द्वारा अपने ग्रन्थ 'रामचन्द्र-भूषण' में दी गई अलंकार की परिभाषा उसके यथार्थ स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करने वाली है। उन्होंने लिखा है—

> शब्द अर्थ रचना रुचिर, अलंकार सो जान।
> भाव भेद गुन रूप ते, प्रगट होत हैं आन॥

यहाँ पर अलंकार को शब्द और अर्थ की कलापूर्ण रुचिर रचना माना गया है जिसकी अभिव्यक्ति भावादि की स्थिति से होती है। इस लक्षण से भाव और गुण के साथ अलंकार का सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। वे बाह्य रूप होते हुए भी रस भावादि से भिन्न नहीं हैं वरन् उनका रूप तो अन्तस्थ भाव के

१. जयदेव-कृत 'चन्द्रालोक', ५ मयूख, पृष्ठ ११४।

'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' 'भूपभूषण' नामक अलंकार पर लिखे ग्रन्थ भी केशव के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में ही रखे जा सकते हैं। परन्तु इन आचार्यों और ग्रन्थों में कोई भी विशेष महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखने वाला नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि रीतिशास्त्रीय परम्परा डालने वाले सबसे पहले रीति-शास्त्र के आचार्य केशवदास ही हैं, जिन्होंने भाषा-कवियों और आचार्यों के सामने हिन्दी-काव्य-रचना का एक नवीन मार्ग उद्घाटित किया। अतएव रीति-शास्त्रीय हिन्दी-साहित्य के भीतर केशव का ऐतिहासिक महत्त्व है।

हिन्दी-रीति-शास्त्र को विभिन्न काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों में विभाजित करना है, क्योंकि अधिकांश आचार्यों ने रस, अलंकार दोनों पर लिखा है और निश्चयतः किसी एक का प्रतिष्ठापन नहीं किया। बहुत-सों ने 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' के मार्ग का अनुसरण करके अलंकार, रस, नायिका के भेद, छन्द, गुण दोष आदि सभी का विवेचन किया है और यह कहना कठिन है कि उनकी मान्यता में कौन-सा सिद्धान्त अधिक समीचीन है। चिन्तामणि, मति-राम, पद्माकर आदि को रसवादी या अलंकारवादी कहना कठिन है। फिर भी उनकी प्रमुख वृत्ति के अनुसार उनका समावेश जिसमें हो सकेगा, उसीमें उनका विवेचन किया जायगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी-रीति-शास्त्र के भीतर रीति, वक्रोक्ति और सिद्धान्तों की चर्चा नहीं के बराबर है। प्रमुखतया इन ग्रन्थों के भीतर अलंकार, रस और ध्वनि का विवरण प्रस्तुत किया गया है, अतः हम इन्हीं तीन सम्प्रदायों के अन्तर्गत हिन्दी-रीति-शास्त्र का विवेचन कर रहे हैं। हिन्दी-रीति-शास्त्र के भीतर गुण, रीति एवं वृत्ति के वर्णन कहीं-कहीं संक्षेप में आये हैं पर वे व्यापक रीति से प्रतिष्ठित सिद्धान्त नहीं बन पाए। अलंकारों अथवा रसाङ्गों के विवरण के साथ ही उनका उल्लेख हुआ है। जैसे केशव ने 'रसिकप्रिया' में वृत्ति का रस-वर्णन की शैली के रूप में उल्लेख किया है। चिन्तामणि ने 'कविकुल कल्पतरु' में, कुलपति ने 'रस रहस्य' में गुणों का वर्णन किया है। ऐसे ही श्रीपति, सोमनाथ, दास आदि ने अपने ग्रन्थों में गुणों का वर्णन किया है, पर वे रस के सहायक गुण हैं, रीति के पोषक गुण नहीं। रीति का वर्णन जगतसिंह द्वारा लिखित, 'साहित्य सुधानिधि' नामक ग्रन्थ की नवीं तरङ्ग में मिलता है। वह भी विस्तार से नहीं है। उसमें चार प्रकार की रीति का उल्लेख इस प्रकार हुआ है :

पंच, षष्ठ नग बसु करि जहाँ समास।
पांचाली लाटी क्रम गौड़ी भास॥

बिन समास जहँ कीजै पद निर्वाह ।
वैदर्भी सो जानी कविन सराहि ।।[१]

यहाँ पर समास के अनुपात और स्थिति के आधार पर रीतियों का संकेत-मात्र किया गया है । अतः इसके विशेष विवरण के अभाव में हमें तीन सम्प्रदायों में ही अपने को सीमित करना पड़ रहा है ।

१. 'साहित्य सुधानिधि', ६,५४, ५५ ।

अलंकार-सम्प्रदाय

काव्य के प्रसंग में अलंकार के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धाराएँ देखने को मिलती हैं। 'अलंकरोति इति अलंकारः' जो शोभा को पूर्ण बना दे अथवा आभूषित करे वह अलंकार है। जिससे यह प्रकट होता है कि यह काव्य की अतिरिक्त विशेषता का द्योतक नहीं है। भामह और दंडी ने अलंकार को अत्यन्त महत्त्व दिया है। भामह की काव्य में अलंकार-सम्बधी वही धारणा है जो भरत की नाटक में रस-सम्बन्धी। वे काव्य की प्रमुख विशेषता अलङ्कारों में ही देखते हैं और रस, भाव आदि को भी रसवदादि अलङ्कारों में बाँधने का प्रयत्न उन्होंने किया है। दंडी की धारणा अलङ्कार के सम्बन्ध में और भी व्यापक है उनकी दृष्टि में काव्य की शोभा बढ़ाने वाले सभी धर्म अलङ्कार हैं (काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते) ऐसा कहकर उन्होंने केवल उक्ति-चमत्कार को ही नहीं वरन् समस्त काव्य-सौन्दर्य को समेट लिया है अतः रसादि भी उसके अन्तर्गत हैं और स्वभावोक्ति भी। गुण और अलङ्कार का भेद दंडी ने स्पष्ट नहीं किया। वास्तव में इस भेद को स्पष्ट करने वाले आचार्य वामन हैं, जिन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्यालङ्कार सूत्र' में लिखा है "काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशय हेतवस्त्वलङ्काराः।" अतः अलङ्कार का काव्य के अन्तभूत सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करने का उद्देश्य स्पष्ट हो गया और वे बाह्य महत्त्व के हो गए। इस भेद के स्पष्ट होने पर ही अन्तरात्मा को प्रकट करने वाले रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सम्प्रदायों का विकास हुआ। अलंकार और गुणों के इस स्पष्टीकरण में हमें दंडी का विरोध भी दीखता है। क्योंकि दंडी अलङ्कार को काव्य की शोभा करने वाला धर्म मानते हैं, और वामन गुण को। वामन शोभा का प्रकर्ष करने वाले धर्म को अलङ्कार मानते हैं। वास्तव में यहाँ विरोध उतना नहीं है जितना धारणा-भेद। दंडी की अलङ्कार-सम्बन्धी धारणा अधिक व्यापक है, जिसे आगे के आचार्य रीति, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति को काव्यात्मा में प्रतिष्ठित होने पर न मान सके। इस प्रकार अलङ्कार की धारणा का काव्य की शोभा से

लेकर अतिशयता, वक्रोक्ति, चमत्कार, वैचित्र्य, और शब्दार्थ का उपकार करने वाली विशेषता के रूप में विकास हुआ।[1] विभिन्न संप्रदायों के विकसित होने के बाद काव्य में अलङ्कार का स्थान गौण हो गया और मम्मट ने तो अपनी काव्य-परिभाषा में ही 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि,' कहकर काव्य से अलङ्कार की अनिवार्यता ही हटा दी , परन्तु, मम्मट की इस परिभाषा का विरोध भी किया गया। विशेष रूप से जयदेव, अप्पय दीक्षित, विद्याधर आदि ने अलङ्कार की फिर प्रतिष्ठा की। जयदेव ने तो 'चन्द्रालोक' में स्पष्ट घोषित किया कि :

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

अलङ्कार की इस प्रकार की धारणा आगे चलकर केशव की परम्परा में आने वाले हिन्दी-रीति-शास्त्र के आचार्यों की भी है। केशव की धारणा भी अलङ्कार के सम्बन्ध में व्यापक है। जैसा कि उनकी 'कविप्रिया' में स्पष्ट है।

अलङ्कार-संबंधी धारणा के विकास के साथ-साथ अलङ्कारों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी विभिन्न आचार्यों की देन महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। सबसे पहला प्रयत्न इस दिशा में रुद्रट का है, जिन्होंने न केवल रस की स्थिति काव्य के अन्तर्गत अलग स्वीकार करके उसे अलङ्कारों से बाहर किया, वरन् अलङ्कारों का वर्गीकरण चार तत्वों के आधार पर प्रस्तुत किया है, जो हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। अलङ्कारों और रस की संख्या में भी विकास करने का श्रेय रुद्रट को प्राप्त है। अलङ्कारों का यह वर्गीकरण न तो पूर्ण ही है और न वैज्ञानिक ही; फिर भी उनके इस क्षेत्र के प्रयास को महत्त्वहीन नहीं कहा जा सकता। वर्गीकरण के क्षेत्र में दूसरा प्रयत्न राजानक रुय्यक का है जिन्होंने औपम्य या सादृश्यगर्भ, शृङ्खलाबद्ध, न्याययुक्त, गूढ़ार्थ, प्रतीतिमूल, तथा संसृष्टि, इन छः आधारों पर वशीकरण किया है। रुय्यक के इस वर्गीकरण को अधिकांश आचार्यों ने आगे भी स्वीकार किया तथा कतिपय परिवर्तन और विकास भी किये। विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में न्यायमूल के तीन रूप तर्क-न्यायमूल, वाक्यन्यायमूल, और लोकन्यायमूल माने हैं। विद्याधर ने अपने ग्रन्थ 'एकावली' में रुय्यक के वर्गीकरण को और भी अधिक सूक्ष्म विकास प्रदान किया है।

---

१. देखिए, वक्राभिध्रेय, शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः (भामह, का० १, ३.)। सौन्दर्यमलंकारः वामन तथा)

दंडी अभिव्यक्ति तथा प्रकार को अलङ्कार का पद ।

सादृश्यगर्भ के तीन भेद हैं—(१) भेदाभेदतुल्य प्रधान, (२) अभेद प्रधान, (३) गम्यमान औपम्य। अभेद प्रधान के दो रूप हैं—(१) आरोपमूल, (२) अध्यवसायमूल तथा गम्यमान के रूप ५ हैं—(१) पदार्थगत, (२) वाक्यार्थगत, (३) भेदप्रधान, (४) विशेषण-वैचित्र्ययुक्त, (५) विशेषण विशेष्य युक्त। शेष वर्गों के भेद नहीं, उनके अन्तर्गत अलंकारों का ही निरूपण है। विद्यानाथ ने रुद्रट की भाँति चार भेद माने हैं—(१) वस्तु प्रतीतियुक्त, (२) औपम्य प्रतीतियुक्त, (३) रसभाव प्रतीतियुक्त, (४) अस्फुट प्रतीतियुक्त; साथ ही रुय्यक और विद्याधर की भाँति अर्थालंकारों का नौ आधारों पर भी वर्गीकरण किया है जो हैं साधर्म्य मूल, अध्यवसाय मूल, विरोधमूल, वाक्यन्याय मूल, लोक-व्यवहार मूल, तर्कन्याय मूल, श्रृंखला-वैचित्र्य मूल, अपह्नव मूल, विशेषण वैचित्र्य मूल। अलंकारों के वर्गीकरण का यह प्रयत्न वैज्ञानिक है। यद्यपि इसमें और अधिक विकास की अपेक्षा है; मतभेद भी सूक्ष्म और साधारण है और प्रायः दृष्टिकोण समान ही हैं। हिन्दी-रीति-शास्त्र के भीतर वर्गीकरण का प्रयत्न केशव और भिखारीदास ने किया है, पर उसे हम न तो वैज्ञानिक ही कह सकते हैं और न मनोवैज्ञानिक ही।

अलंकार के आचार्य

आगे हम हिन्दी-रीति-शास्त्र के भीतर अलंकार के क्षेत्र में विभिन्न आचार्यों के ग्रन्थों का परिचय देंगे। सर्व प्रथम आचार्य केशवदास आते हैं।

केशवदास—केशवदास का महत्त्व अनेक दृष्टियों से है, इन्होंने आचार्य के रूप में रीतिशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे और कवि के रूप में परम्परागत सभी धाराओं में अपनी कवि-प्रतिभा को निमज्जित किया। इन्होंने वीरगाथा वर्णन की परम्परा में 'वीरसिंह देव चरित' तथा 'जहाँगीरजस चन्द्रिका' लिखी। भक्ति और ज्ञान-काव्य की परम्परा में 'विज्ञान-गीता' का प्रणयन किया, और प्रबन्ध-रचना की पद्धति पर 'रामचन्द्रिका' महाकाव्य रचा। परन्तु 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' के प्रणयन द्वारा इन्होंने रीति-शास्त्र के आधार पर काव्य-रचना की नवीन पद्धति प्रचलित की। केशव ने अपनी उपर्युक्त दोनों पुस्तकों द्वारा काव्य-शास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने भाषा का कार्य कवि की योग्यता, कविता का रूप और उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य-रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के प्रकार, काव्य-दोष, अलंकार, रस-वृत्ति आदि विषयों को अपने ढंग से स्पष्ट किया है। इस स्पष्टीकरण में विषय का गम्भीर और प्रामाणिक विवेचन नहीं हो पाया,

केवल केशव का इन विषयों पर ज्ञान ही चमत्कारपूर्ण ढंग पर प्रकट हुआ है।'

केशव चमत्कार को मानने वाले आलंकारिक सिद्धान्त पर श्रद्धा रखते थे अतः उन्होंने प्राचीन संस्कृत के आलंकारिकों भामह, दंडी, उद्भट आदि को ही अपने विवेचन का आधार बनाया, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रन्थों को नहीं। परन्तु केशव के उपरान्त चिन्तामणि के साथ जो काव्य की परम्परा चली उसमें 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' का आधार विशेष रूप से लिया गया। केशव से प्रेरणा न प्राप्त करने पर भी केशव के आधार को आगे के आचार्यों ने अधिक ग्रहण किया। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि केशव का समकालीन अथवा परवर्ती कवियों पर प्रभाव नहीं पड़ा। केशव के द्वारा लिखित रीति-शास्त्र के दोनों ग्रन्थ बड़े ही समादृत रहे; और परवर्ती आचार्यों और कवियों ने इन ग्रन्थों को पढ़कर ही कुछ लिखने का साहस किया। किसी भी आचार्य अथवा कवि की योग्यता प्रमाणित हो जाती थी, यदि वह यह प्रकट कर देता था कि उसने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया है। अपने इन दोनों ही ग्रन्थों में केशव ने काव्य-शास्त्र का गम्भीर विवेचन नहीं किया, इसका कारण यह नहीं कि केशव का संस्कृत का ज्ञान उथला था, वरन् इसका प्रमुख कारण यह है कि वे हिन्दी के माध्यम से काव्य-शास्त्र को समझाना चाहते थे। वे काव्य-शास्त्र का ज्ञान, जन-साधारण को सुलभ करके साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत करना चाहते थे। विद्वानों के लिए सिद्धान्त-ग्रन्थ लिखना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने इस प्रकार के प्रयत्न के लिए क्षमा-याचना भी की है :

समुझै बाला बालकहुँ, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥१॥

कुछ आधुनिक समालोचकों ने इन समस्त परिस्थितियों को हृदयंगम किये बिना ही, केशव के सम्बन्ध में अपने कच्चे निष्कर्ष निकाले हैं; जो प्रायः हिन्दी-साहित्य के अध्येताओं को कुछ भ्रम में डाल देते हैं। कवि और आचार्य दोनों ही रूपों में केशव का स्पष्ट दृष्टिकोण और उद्देश्य था और जब हम उसे समझ लेते हैं, तब हम यही कह सकते हैं कि केशवदास अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं। उनमें विलक्षण सूझ और प्रतिभा थी जिसका सम्मान हमें करते ही बनता है और परवर्ती कवियों ने बराबर जिसका सम्मान किया है। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' दोनों में ही हमें रीतिशास्त्रीय प्रसंगों पर विचार

के साथ-साथ उदाहरण रूप में आये काव्य में इस प्रकार की सूझ स्पष्ट दीखती है। शब्दों पर उनका असाधारण अधिकार था और उनका शब्द-भण्डार भी बड़ा ही विस्तृत था। हाँ यह अवश्य था कि वे तुलसीदास के समान सरल कविता [1] पर विश्वास नहीं करते थे। वे वस्तु के चमत्कारपूर्ण वर्णन पर विश्वास करते थे और काव्य में अलंकार को विशेष महत्त्व देते थे। उन्होंने लिखा है :

भूषण बिना न सोहई, कविता बनिता मित्त।

उनका विचार है कि वस्तु का जो स्वरूप कवि के चमत्कारपूर्ण वर्णन द्वारा स्पष्ट होता है, वह सुन्दर होता है। चन्द्रमा और कमल स्वयं इतने सुन्दर नहीं, परन्तु कवि की कल्पना के बीच से आकर इतने सुन्दर हो गए हैं—"देखे मुख भावे, अन देखे ही कमलचन्द।" अतः वस्तु का सामान्य नहीं वरन् विलक्षण वर्णन ही, केशव, कवि का उद्देश्य मानते हैं। और उनकी अपनी निजी समस्त रचना इस बात का उदाहरण है।

कविप्रिया में केशव ने कवि-शिक्षा की बातें लिखी हैं। इसके १६ प्रभावों में कवि के लिए काव्य-रचना में उपयोगी अनेक बातों का विवरण दिया गया है, जिनमें प्रमुख प्रसंग काव्य-दोष, कवि-भेद, वर्णन के प्रकार, सामान्यालङ्कार, राज्यश्री, विशिष्टालङ्कार (जिसमें वास्तव में अलङ्कारों का विविध भेदों के सहित वर्णन है), नख-शिख, चित्रालङ्कार आदि के वर्णन हैं। दोष और अलङ्कार दण्डी के 'काव्यादर्श' के आधार पर हैं तथा अन्य वर्णन आदि के प्रसङ्ग संस्कृत के आचार्य केशव के 'अलङ्कार शेखर' तथा अमरचन्द की 'काव्य-कल्पलतावृत्ति' के आधार पर लिख गए हैं। 'कविप्रिया' में विशेष प्रयत्न अलङ्कारों के वर्गीकरण का है। यह वर्गीकरण उक्ति, उपमा, तुलना, शब्दावृत्ति, अनेकार्थता, विरोध, कार्य-कारण-सम्बन्ध आदि के आधार पर किया गया है। केशव की 'कविप्रिया' में उनकी समस्त विषय की जानकारी स्पष्ट होती है, परन्तु अपनी चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति के फेर में पड़कर अपने विवेचन को वे गम्भीरता प्रदान नहीं कर पाए।

रसिकप्रिया में रसाङ्गों, वृत्तियों और रस-दोषों का वर्णन है। 'रसिकप्रिया' का उद्देश्य 'कविप्रिया' से भिन्न है। 'कविप्रिया' में जहाँ पर साधारण लोगों और नौसिखुओं को काव्य-सम्बन्धी बातें बताने का उद्देश्य है वहाँ पर 'रसिकप्रिया' रसिकों की तृप्ति के लिए है। केशव ने स्पष्ट कहा है :

---

१. सरल कवित कीरति विमल सुनि आदरहिं सुजान—'रामचरित मानस।'

अति रति गति मति एक करि, विविध विवेक विलास।
रसिकन को रसिकप्रिया, कीन्हीं केसवदास ॥

परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इसमें कृष्ण और राधा के रस का वर्णन है, मनुष्य-मात्र के भीतर होने वाली रसानुभूति का विश्लेषण नहीं। रसमग्न राधा और कृष्ण के रसानुभाव को ही प्रकाशित करने का प्रयत्न केशव ने इसमें किया है। फिर भी केशव की 'रसिकप्रिया' का महत्त्व 'कविप्रिया' से अधिक माना गया है। आगे के विद्वानों ने 'कविप्रिया' का उतना उल्लेख नहीं किया जितना 'रसिकप्रिया' का।

'रसिकप्रिया' में केशव ने रस की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा प्रकाशित स्थायी भाव है।

मिलि विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सुअनूप।
व्यंग करै थिरभाव जो, सोई रस सुख रूप ॥[1]

पहले प्रकाश में नवरसों के नाम तथा उन सबमें प्रमुख शृंगार का वर्णन है। दूसरे प्रकाश में नायक-नायिकाओं के लक्षण तथा भेद आदि हैं जो पाँचवें प्रकाश तक चले गए हैं। छठे प्रकाश में भावों और हावों का वर्णन है, उसके उपरान्त वियोग शृंगार तथा उसकी विभिन्न अवस्था का विवरण देकर बारहवें और तेरहवें प्रकाश में सखी और उसके कार्यों का विवरण दिया गया है। चौदहवें प्रकाश में शृंगारेतर रसों का विवरण है। करुण और हास्य को छोड़कर अन्य रसों का वर्णन अति संक्षेप में किया गया है। पन्द्रहवें प्रकाश में वृत्ति तथा सोलहवें प्रकाश में रस-दोषों का वर्णन है। 'रसिकप्रिया' के उदाहरण अवश्य बड़े ही सरस और भाषा तथा छन्द की गति बड़ी ही मनोहारी है, पर विवेचन महत्त्व का नहीं। केशव ने रस पर लिखा अवश्य है, पर हम उन्हें अलंकारवादी ही कह सकते हैं।

केशवदास के बाद अलंकार पर प्रसिद्ध ग्रन्थ जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण', मतिराम का 'ललितललाम', भूषण का 'शिवराजभूषण' है। ये ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर हैं, पर ये 'चन्द्रालोक' के अनुवाद हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

जसवन्तसिंह—पिछले युग तक अलंकार पर सबसे अधिक पठित ग्रन्थ जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण' रहा है। महाराज जसवन्तसिंह मारवाड़ के प्रतापी हिन्दू राजा थे। इनका जन्म सन् १६२६ ई० में हुआ था और सन् १६३८ ई० में, १२ साल की आयु में अपने बड़े भाई अमरसिंह के

१. 'रसिकप्रिया', प्रकाश १,२।

अधिकार से अलग किये जाने पर ये गद्दी पर बैठे। ये बड़े वीर पुरुष थे और औरंगज़ेब को इनका सदा भय रहा। ये अपनी साहित्यप्रियता और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे और इनके राज्य-काल में विद्या की अभिरुचि जाग्रत हुई तथा विद्वानों के समागम हुए। औरंगज़ेब ने इन्हें गुजरात का सूबेदार बनाया था और शिवाजी के विरुद्ध शाइस्ता खाँ के साथ भेजा था। अफ़गानों के जीतने के लिए ये काबुल भेजे गए और वहीं सन् १७०८ में इनका देहावसान हुआ। महाराज जसवन्तसिंह की गणना प्रसिद्ध आचार्यों में रही है। इनके 'भाषा-भूषण' ग्रन्थ में संक्षेप में शुद्ध अलंकारों के लक्षण और उपयुक्त उदाहरण दिये गए हैं। प्रायः दोहे के एक पद में लक्षण और दूसरे में उदाहरण देकर यह ग्रन्थ स्मरण-योग्य बनाया गया है। संक्षेप में होते हुए भी शुद्ध और पूर्ण होना इस ग्रन्थ का प्रमुख गुण है। 'भाषाभूषण' का रचना-काल अठारहवीं शताब्दी विक्रमीय का प्रारम्भ है। 'भाषाभूषण' के प्रथम प्रकरण में रस का विवेचन है, जिसके विषय नायक-भेद, नायिका के जाति-भेद, अवस्था-भेद, परकीया के छः भेद, नायिकाओं के नौ भेद, मान, सात्त्विक भाव, दस हाव, विरह की दस दशाएँ, रस, स्थायी भाव, उद्दीपन, आलम्बन, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का वर्णन हैं। दूसरे प्रकरण में भेदों सहित १०८ अलंकारों का वर्णन है। अधिकांश उनका वर्गीकरण विद्वानों की दृष्टि से नहीं, वरन् विद्यार्थियों की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर है। अर्थालंकारों का ही वर्णन विशेष है। शब्दालंकारों का वर्णन बड़े संक्षेप में है।

'भाषाभूषण' की शैली 'चन्द्रालोक' की शैली है। कहीं-कहीं लक्षण इतने संक्षिप्त हैं कि संस्कृत-सूत्रों की भाँति उनकी भी व्याख्या करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप इसकी अनेक टीकाएँ हुई हैं, जिनमें अधिक प्रसिद्ध वंशीधर की 'अलंकार रत्नाकर' टीका (सं० १७१२) में प्रतापसिंह की टीका और गुलाब कवि की 'अलंकार-चन्द्रिका' हैं। श्री गुलाबराय की टीका भी आधुनिक युग में प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अलंकार के समस्त तत्त्व आ गए हैं। काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में इसका प्रचार खूब हुआ। यह ग्रन्थ अलंकारों को कंठ करने के लिए बड़ा उपयोगी समझा जाता रहा है।

मतिराम की प्रवृत्ति रस की ओर ही अधिक है और वे लक्षणकार की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं। फिर भी उनके 'अलंकार पंचाशिका' और 'ललितललाम' ग्रन्थ अलंकार पर हैं। 'अलंकार पंचाशिका' कुमायूँ-नरेश उदोतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचन्द्र के लिए लिखी गई और इसका आधार 'चन्द्रालोक'

सम्बन्ध भाव से भी है, केवल शब्द-योजना ही से नहीं।

'रामचन्द्र भूषण' ग्रन्थ में लेखक ने कहीं-कहीं गद्य-टीका भी रखी है जिसे तिलक कहा है, जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा के भेदों में। भूषण की भाँति अन्त में अमृतध्वनि भी लिखे हैं जो वृत्तिवर्णन के प्रसंग में परुषा वृत्ति के अन्तर्गत आये हैं। कोमला वृत्ति का एक सुन्दर उदाहरण सीता के चरणों की शोभा का वर्णन है—

मिलित महावर महीन मेंहदी से बुन्द, वेषित नखन पर जोति नभ लीके हैं।
कवि लछिराम आँगुरीन पै अजब ओज, संग सौज मौजमान चंपक कली के हैं ।।
भानुवंश भूषन महीप रामचन्द्र चख, सीरे होत हेरि मन मोहन थली के हैं।
पल्लव बँधूक कोकनद मद गारे टारे, जुगल जसीले पद जनक लली के हैं ।।६२१।।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लछिराम का अलङ्कार-विवेक अत्यन्त उत्कृष्ट है, पर प्रमुखतया इनकी प्रतिभा कवि की है, आचार्य की नहीं है।

कविराजा मुरारिदान—जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिंह के आश्रय में कविराजा मुरारिदान ने सं० १९५० में 'जसवन्त भूषण' की रचना की। मुरारिदान जी संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। इन्होंने अलंकारों को नवीन युक्ति से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यद्यपि इस ग्रन्थ के अन्तर्गत काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, गुण-रीति, अलंकार आदि सबका वर्णन है; परन्तु प्रमुखतया इसमें आलंकारिक विशेषता है। ग्रन्थ की रचना के आधार पर 'अग्निपुराण', 'नाट्य-शास्त्र,' 'चिन्तामणिकोष', 'चन्द्रालोक' आदि हैं। अतः प्रचलित प्रसिद्ध परिभाषाएँ, जो 'काव्य प्रकाश', 'रसगंगाधर' आदि के आधार पर हैं, इसकी परिभाषाओं से भिन्नता रखती हैं। कविराजा की मान्यता है कि समस्त अलंकारों के नाम ही स्वयं लक्षण हैं।[1] अतएव इन्होंने अलग-अलग लक्षण न लिखकर अलंकारों के नाम की व्युत्पत्ति से अपनी व्याख्या द्वारा लक्षण निकाला है जो प्रायः अस्पष्ट है। यद्यपि यह बात सत्य है कि अलंकारों के नाम मनुष्यों के नामों की भाँति निरर्थक नहीं हैं। फिर भी उनके नाम सार्थक होते हुए भी लक्षणों का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते। लक्षण प्रमुख विशेषताओं के आधार पर होते हैं जिसका स्पष्ट निर्देशन आवश्यक है; क्योंकि उससे अलंकार-विशेष का स्वरूप स्वयं को समझ में आता है और दूसरे को भी समझाया जा सकता है। प्रधानतया लक्षण एक-दूसरे के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक होते हैं। उदाहरणार्थ अत्युक्ति और अतिशयोक्ति अलंकार हैं जिनके नाम से लगभग एक ही प्रकार का बोध होता है; पर दोनों में अन्तर है। अतिशयोक्ति

१. 'जसवन्तभूषण', प्रस्तावना, पृ० ३।

जाको वर्णन कीजिये, सो उपमेय प्रमान।
जाकी समता दीजिये, ताहि कहत उपमान।।
जहँ बरनिये दुहुन की, सम छवि को उल्लास।
पंडित कवि 'मतिराम' तहँ, उपमा कहत प्रकाश।।[१]

यहाँ पर 'समछबि को उल्लास' पद से उपमालंकार की आन्तरिक विशेषता प्रकट होती है। उपमेय और उपमान के बीच जो समान छवि, समान विशेषता है उसका सुन्दर प्रकाशन या अभिव्यक्ति उपमालंकार में होती है। इसका उदाहरण भी ऐसा ही सुन्दर है।

मतिराम ने केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन किया है; शब्दालंकारों को उन्होंने नहीं लिया। मतिराम के क्रम और लक्षण को प्रायः भूषण ने अक्षरशः 'शिवराज भूषण' में ग्रहण किया है।

भूषण—भूषण को आलंकारिक ही कहना चाहिए। यद्यपि इनकी उक्तियाँ वीररसपूर्ण हैं, फिर भी इसके प्रधान ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' में अलंकारों के ही लक्षण-उदाहरण हैं। 'शिवराज भूषण' की रचना सं० १७३० (सन् १६५३ ई०) में हुई थी। इस ग्रन्थ पर मतिराम के 'ललितललाम' का प्रभाव स्पष्ट है। अनेक लक्षण और उदाहरण बिलकुल वही हैं। लक्षण तो विशेष रूप में 'ललितललाम' के ही, 'शिवराज भूषण' में पाये जाते हैं। इस बात की पुष्टि के लिए मालोपमा, उल्लेख, छेकापह्नुति, दीपक, निदर्शना आदि के लक्षण देखे जा सकते हैं, जिनमें न केवल भाव-साम्य है, वरन् शब्दावली भी वही है। कहीं-कहीं तो केवल कवि नाम का ही भेद है, जैसे 'मालोपमा' का लक्षण देखिये—

जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
तहाँ कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान।। (ललितललाम)
जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
ताहि कहत मालोपमा, भूषण सुकवि सुजान।। (शिवराज भूषण)

इसके साथ-ही-साथ अलंकारों का क्रम भी एक ही प्रकार का है। अर्थालंकार, 'ललितललाम' में कुछ अधिक हैं, पर 'शिवराज भूषण' में शब्दालंकार भी इसके बाद दिये हुए हैं, यह विशेषता है। कुल मिलाकर भूषण ने भी १०० ही अलंकारों का वर्णन किया है और बहुत-से लक्षण गड़बड़ हैं; जैसे परिणाम, भ्रम, निदर्शना, सम, परिकर, विवेचना, काव्यलिंग-अर्थान्तरन्यास आदि। कुछ लोगों का विचार है कि भूषण ने भाविक छवि आदि कुछ नवीन

१. 'ललितललाम', ३९-४०।

अलंकार रखे हैं, पर उनमें कोई नवीनता नहीं। केवल एक भेद-मात्र ही यह 'भाविक' अलंकार कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में भाविक छवि इसी रूप में मिलती है।[1] मतिराम के लक्षण इनके लक्षणों से अधिक अच्छे हैं। हाँ इनके उदाहरण अधिकांश वीर-भाव के हैं, यह इनकी मौलिकता अवश्य है, जो भूषण को कवि-समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान और गौरव प्रदान करती है।

आचार्य कुलपति ध्वनि और सुखदेव तथा देव प्रमुखतः रस-सिद्धान्त पर आस्था रखने वाले व्यक्ति हैं, पर इन्होंने अलंकार का खण्डन नहीं किया है। देव के 'काव्य-रसायन' में अलंकारों का वर्णन विस्तार के साथ है। इसमें अर्थालंकार के दो भेद हैं :—मुख्यालंकार तथा गौण मिश्रालंकार। प्रथम वर्ग में रसवत् अलंकारों का भी वर्णन है। कुल मिलाकर ८० अलंकार और उनके भेदों का विवरण है। इन्होंने सन्देह अलंकार के अतिरिक्त एक अलंकार संशय अलग रखा है। जहाँ उपमा देने में अनिश्चय रहता है वहाँ संशय माना गया है। भूषण के 'भाविक छवि' की भाँति इसे भी मुख्य अलंकार का एक भेद ही मानना अधिक उपयुक्त है, सर्वथा एक अलग अलंकार मानना उपयुक्त नहीं।

गोप—अलंकार के क्षेत्र में कुछ कम प्रसिद्ध आचार्य कवियों के ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और विशेष रूप से वे, जिनमें केवल अलंकारों का ही निरूपण हुआ है। सन् १७१६ ई० तथा उसके आस-पास ओरछा नरेश पृथ्वी-सिंह के आश्रय में लिखे गए गोप कवि के तीन ग्रन्थ हैं—रामालंकार, रामचन्द्रभूषण और रामचन्द्राभरण। ये ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर हैं। प्रथम दोहार्द्ध में लक्षण और द्वितीय में उदाहरण दिये गए हैं। संक्षेप में होने पर भी लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हैं। गोप कवि द्वारा अपने ग्रन्थ 'रामचन्द्र-भूषण' में दी गई अलंकार की परिभाषा उसके यथार्थ स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करने वाली है। उन्होंने लिखा है—

शब्द अर्थ रचना रुचिर, अलंकार सो जान।
भाव भेद गुन रूप ते, प्रगट होत हैं आन॥

यहाँ पर अलंकार को शब्द और अर्थ की कलापूर्ण रुचिर रचना माना गया है जिसकी अभिव्यक्ति भावादि की स्थिति से होती है। इस लक्षण से भाव और गुण के साथ अलंकार का सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। वे बाह्य रूप होते हुए भी रस भावादि से भिन्न नहीं हैं वरन् उनका रूप तो अन्तस्थ भाव के

१. जयदेव-कृत 'चन्द्रालोक', ५ मयूख, पृष्ठ ११४।

अनुरूप एवं उसी का सहचारी होता है। काव्य के सर्वांगीण विश्लेषण में अलंकार का यह रूप अपना स्पष्ट स्थान रखता है। अलंकारों का अधिकांश विवरण इन ग्रन्थों में परम्परागत रूप में ही है, परन्तु गोप कवि ने स्वभावोक्ति के चार भेद जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के आधार पर किये हैं। इनका यह वर्णन केशव के द्वारा किये गए अलंकारों के वर्गीकरण में किंचित् विकास प्रस्तुत करता है। केशव ने सामान्य और विशिष्ट अलंकार माने हैं। सामान्य के भीतर स्वाभाविक वर्णन का सौन्दर्य है और विशिष्ट में उक्ति-वैचित्र्य का। यहाँ पर काव्य के दो भेद स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति किये जा सकते हैं। वक्रोक्ति में उक्ति-वैचित्र्य पर आधारित समस्त अलंकार हैं और स्वभावोक्ति में स्वाभाविक यथातथ्य वर्णन आते हैं। दोनों ही अलंकारों में शब्दार्थ की रुचिर रचना और रस भावादि का समावेश रहता है। अतः अलंकारों की यह धारणा, अलंकार के व्यापक महत्त्व को स्पष्ट करती है और अलंकार काव्य में अनिवार्यतः आ जाते हैं। मम्मट की काव्य-परिभाषा 'सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इस दृष्टि से उचित नहीं ठहरती। वास्तव में अलंकार-सम्प्रदाय का दृष्टिकोण यही रहा है।

अलंकारों को लेकर एक प्रकार के 'रस भूषण' ग्रन्थ लिखे गए जिनमें अलंकार और रस दोनों के ही लक्षण और उदाहरण देने का चमत्कारपूर्ण प्रयत्न किया गया। इस दिशा में दो 'रस भूषण' प्रसिद्ध हैं, एक याकूबखाँ का 'रस भूषण' और दूसरा शिवप्रसाद का 'रस भूषण'। याकूबखाँ का 'रस भूषण' सन् १७१८ ई० की रचना मानी जाती है और शिवप्रसाद की रचना का निर्माण-काल सन् १८२२ ई० है, जो दतिया में राजा परीक्षित के आश्रय में लिखी गई। इन ग्रन्थों का कोई विशेष शास्त्रीय महत्त्व नहीं कहा जा सकता। हाँ अलंकार और रस का एक सम्बन्ध अवश्य प्रकट होता है। किस अलंकार के साथ कौन रस अधिक निष्पन्न होता है? इस समस्या पर भी प्रकाश ऐसे ग्रन्थों द्वारा पड़ता है। याकूब ने अपने ग्रन्थ 'रस भूषण' में उपमालंकार और नायिका-भेद को एक साथ प्रारम्भ किया है। वे लिखते हैं—

पूरण उपमा जानि चारि, पदारथ होई जिहिं।
ताहि नायिका मानि, रूपवन्त सुन्दर सुछवि॥
हैं कर कोमल कंज से, ससि सी दुति मुख औन।
कुन्दन रंग पिक बचन से, मधुरे जाके बैन॥

इसमें तीन पूर्णोपमाओं और नायिका का वर्णन आया है, लक्षणों में कोई विशेषता नहीं। इसी परिपाटी पर इससे भी अधिक चमत्कार-प्रदर्शन करने

वाली 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' है जिसमें शब्द-शक्ति, नायिका-भेद और अलंकार तीनों का वर्णन एक साथ चलता है। निश्चय ही ये काव्य बुद्धि के व्यायाम हैं। न तो शास्त्रीय दृष्टि से इनमें कोई मौलिक चिन्तन ही हो पाया है और न हार्दिक काव्योद्गार ही इनमें प्रकट हुआ है। इस चमत्कारवादिता ने रीति-काव्य और रीति-शास्त्र दोनों को ही हानि पहुँचाई है।

रसिक सुमति—'कुवलयानन्द' के आधार पर लिखा गया रसिक सुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ है। ये मथुरिया टोला आगरा के रहने वाले उपाध्याय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम ईश्वरदास था। ये काश्यप-वंशी सनौढ़िया उपाध्याय ब्राह्मण थे। इन्हें अलंकार पर ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा 'कुवलयानन्द' से प्राप्त हुई थी यह प्रारम्भ के इस दोहे में प्रकट है—

रसिक कुवलयानन्द लषि, असि मन हरष बढ़ाय।
अलंकार चन्द्रोदयहिं, बरनतु हिय हुलसाय॥

'अलंकार चन्द्रोदय' संवत् १७८६ (सन् १७२१ ई०) का लिखा ग्रन्थ है और १८७ छन्दों में समाप्त हुआ है। पुस्तक की समाप्ति पर रचना-काल अंकित है—

लिषि लषहुरस वसु रिषि शशि, संवतई सावन मास।
कुज पुस्य तेरसि असित को, यह कियो ग्रन्थ प्रकास॥

रसिक सुमति के विचार से शब्द और अर्थ की विचित्रता ही अलंकार है।[1] उपमालंकार से प्रारम्भ करके अनेक भेद देते हुए ८० अर्थालंकार और उनके भेदों तथा अनुप्रासों का वर्णन किया गया है। बीच-बीच में अलंकारों को स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक शब्दों को भी स्पष्ट किया गया है, जैसे उपमेय-उपमान, विशेष्य-विशेषण, वाक्य-पद आदि। सामान्यतया 'अलंकार चन्द्रोदय' अलंकार का अच्छा ग्रन्थ है।

गोबिन्द—गोबिन्द कवि का 'कर्णाभरण' नामक ग्रन्थ सन् १७४० (१७६७ वि०) की रचना है। ग्रन्थ के अन्त में रचना-तिथि-सम्बन्धी निम्नांकित दोहा है—

नग निधि रिषि ससि बरष में, सावन सित तिथि सम्भु।
कीन्हीं सुकवि गुबिन्द जू, कर्णाभरण आरम्भु॥

इनका जीवन-सम्बन्धी अन्य विवरण प्राप्त नहीं है। मिश्र-बन्धुओं ने केवल उनका रचना-काल और ग्रन्थ का नाम दिया है।[2] शुक्ल जी के इतिहास में

१. सब्द अरथ की चित्रता, विविध भाँति की होइ।
अलंकार तासों कहत, रसिक बिबुध कवि लोइ॥३॥

२. 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग, २, पृ० ६६०।

कोई उल्लेख नहीं। 'शिवसिंह सरोज' में तीन छन्द और रचना-तिथि दी हुई है।[१] परन्तु यह ग्रन्थ भारत जीवन प्रेस से सं० १८६४ में मुद्रित हुआ था 'कर्णाभरण' प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है। अधिकांश दोहों के प्रथम भाग में लक्षण और द्वितीय में उदाहरण दिये हुए हैं। यह 'भाषा भूषण' की शैली पर, किन्तु इससे अधिक स्पष्ट लक्षण देने वाली पुस्तक है। उदाहरण भी स्पष्ट और सुन्दर हैं एकाध जगहों में लेखक की मौलिकता भी देखने को मिलती है, जैसे गोबिन्द कवि के अनुसार श्लेष के तीन भेद हैं, प्रकृत-प्रकृत, प्रकृताप्रकृत और अप्रकृताप्रकृत। ये शब्दों से निकलने वाले प्रकृत अथवा अप्रकृत अर्थों के आधार पर किये गए भेद हैं। इनका सापह्नवातिशयोक्ति का उदाहरण पर्यस्तापह्नुति का-सा है। इसी प्रकार तुल्ययोगिता और दीपक के लक्षणों में भी भ्रम हो सकता है, यदि उनका ठीक से अर्थ न किया जाय। पर ऐसे बहुत कम स्थल हैं। अधिकांश लक्षण स्पष्ट और उदाहरण सुन्दर हैं।

दूलह कवि प्रसिद्ध आलंकारिक हैं। ये हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य कवि कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। मिश्र बन्धुओं के अनुसार ये कान्यकुब्ज थे और बनपुरा के रहने वाले थे। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका रचना काल सन् १७५० से १७७५ ई० तक है इनका ग्रन्थ 'कविकुल कण्ठाभरण' अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अलंकार की परिभाषाएँ और उदाहरण अत्यन्त संक्षेप में दिये हुए हैं। यह प्रामाणिक और कण्ठ-योग्य पुस्तक मानी जाती है जैसा कि दूलह ने प्रारम्भ में ही कह दिया है—

> जो या कंठाभरण को, कंठ करै सुख पाय।
> सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

इसके उदाहरण अलग से कोई काव्यगत महत्त्व नहीं रखते, क्योंकि वे लक्षण की लपेट में ही आये हैं अलग नहीं। प्रायः एक ही पंक्ति का आधा भाग लक्षण और आधा भाग उदाहरण है। कुछ ही छन्द ऐसे हैं जिनमें उदाहरण लक्षण से अलग हैं। यह ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर है जिसका उल्लेख लेखक ने स्वयं ही स्थान-स्थान पर किया है। दूलह ने अपने ग्रन्थ में ७ रसवदादि तथा आठ प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य अलंकारों का विवरण दिया है अन्तिम आठ मीमांसा-योग आदि दर्शन की शब्दावली पर आधारित हैं। इनका

१. 'शिवसिंह सरोज', नवलकिशोर प्रेस, पृ० ७८।

स्पष्टीकरण भेदों से और भी हो जाता है जैसे क्षीर-नीर-न्याय पर संकर और तिल-तण्डुल न्याय पर संसृष्टि अलंकार। इसमें कुल ११७ अलंकारों का वर्णन हुआ है और दोनों ही इनकी प्रौढ़ धारणा को व्यक्त करते हैं।

बैरीसाल असनी के निवासी ब्रह्मभट्ट थे। इनके वंशज और हवेली अब तक विद्यमान है।[1] इनका रचा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाषाभरण' अलंकारों का उत्तम ग्रन्थ है। लक्षण स्पष्ट और उदाहरण अत्यन्त सुन्दर हैं। 'भाषाभरण' में अधिकांश दोहे और कुल ४७५ छन्द हैं। 'भाषाभरण' का रचना-काल सं० १८२५ (सन् १७६८ ई०) है; जैसा कि नीचे लिखे दोहे से प्रकट होता है—

> शर कर वसु बिधु वर्ष में, निर्मल मधु को पाइ।
> त्रिदशि और बुध मिलि कियो, भाषाभरण सुभाइ ॥१॥

बैरीसाल ने कहा है कि शब्द और अर्थ में जिसकी प्रधानता है वह अलंकार मानना चाहिए। प्रमुखतया यह कवि के अभिप्राय पर निर्भर करता है। इस तथ्य को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

> ज्यों ब्रज में ब्रज बधुन की, निकसति सजी समाज।
> मन की रुचि जापर भई, ताहि लखत ब्रजराज ॥

'भाषाभरण' में वर्णन का ढंग 'भाषा भूषण' के समान है। इसका आधार 'कुवलयानन्द' है। लुप्तोपमा के प्रसंग में, इन्होंने एक भेद पूर्ण लुप्तोपमा भी माना है जिसमें कि उपमा के चारों अंग लुप्त हों और इसका उदाहरण दिया है,

> जहाँ न चार्यो है तहाँ, पूरणलुप्ता नाम।
> ज्यहि लखि लाजत कोकिला, ताहि लीजिये स्याम ॥

उपर्युक्त प्रकार के भेद की कल्पना की जा सकती है, पर ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता। प्रस्तुत उदाहरण प्रतीप की विशेषता रखता है और कोकिला के रूप में उपमान प्रकट भी है, लुप्त नहीं। अतः यह पूर्णलुप्तोपमा का उदाहरण नहीं हुआ। 'भाषाभरण' में रसवदादि अलंकारों का भी वर्णन है। अधिकांश अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। यह 'कुवलयानन्द' की शैली पर लिखा गया है, इसका उल्लेख उन्होंने अन्त में किया है—

> तेहि नारायण ईस को, करि मन माह समर्ण।
> रीति कुवलयानन्द की कीन्हीं भाषाभर्ण ॥

---

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', २, ७२६।

२. 'भाषाभरण', छन्द ८।

अलंकार के प्रामाणिक ग्रन्थों में इसकी गणना होनी चाहिए।

अलंकार पर लिखे जाने वाले ग्रन्थों की संख्या कम नहीं है। 'अलंकार-गंगा' (श्रीपति), 'कंठाभूषण' (भूपति), 'अलंकार रत्नाकर' (वंशीधर), 'अलंकार दीपक' (शम्भुनाथ), 'अलंकार दर्पण' (गुमान मिश्र, हरिनाथ, रतन, रामसिंह कवियों का), 'अलंकारमणि मंजरी' (ऋषिनाथ), 'काव्याभरण' (चन्दन), 'नरेन्द्र-भूषण' (भान), 'फतेहभूषण' (रतन), 'अलंकार चिन्तामणि' (प्रतापसिंह), 'अलंकार आभा' (चतुर्भुज), 'अलंकार प्रकाश' (जगदीश) तथा अन्य अनेक ग्रन्थ अलंकारों पर लिखे गए, जो आज दुर्लभ्य हैं। इनका अधिकांश आधार 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' अथवा हिन्दी के ग्रन्थ ही कहे जाते हैं। पद्धति सबकी वही है। जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अलंकार की धारणा में कोई विकास या नवीन मौलिक व्याख्या इनमें प्रस्तुत नहीं की गई होगी।

गोकुलनाथ—गोकुलनाथ काशीवासी प्रसिद्ध रघुनाथ कवि के पुत्र थे और बलिभद्र के शिष्य। रामचन्द्र शुक्ल ने इनका रचना-काल सं० १८४० से १८७० तक माना है। इन्होंने गोपीनाथ और मणिदेव के साथ महाभारत का उल्था किया था। इनका ग्रन्थ 'चेतचन्द्रिका' अलंकार-ग्रन्थ है, जिसकी रचना काशीराज बरिबंड के पुत्र महाराज चेतसिंह के लिए की गई थी। कवि की प्रशंसा में ग्रन्थ के प्रारम्भ में कथन है—

मन बच कर्मनि कै करै, सबही को उपकार।
लहत सुकवि या जगत में, ज्यों सुरसरि की धार ॥ १२ ॥

'चेतचन्द्रिका' में पहले सब अलंकारों के नाम दिये गए हैं फिर दोहों में लक्षण तथा कवित्त, सवैया, सोरठा में उदाहरण हैं। लक्षण जटिल और अस्पष्ट हैं; परन्तु उदाहरण के लिए लिखे गए छन्दों में काव्य सुन्दर है, इसमें सन्देह नहीं। चतुर्थ प्रतीप का लक्षण 'चेतचन्द्रिका' में इस प्रकार है—

भयो वर्न्य उपमान जो, ता लहि जो उपमान।
भयो वर्न्य ताको कहत मिथ्या चौथो जान ॥ ६५ ॥

उदाहरण यह है—

पंकज पायन से कहिये, कटि सी लखि काम की छाम अँगूठी।
रोमावली सी भुजंगलली, कुच सी छवि कोकत हूँ की अनूठी ॥
गोकुल आनन सो ससि जो, कहियै गहिये उपमा यह जूठी।
भावती की मुसुकानि सी ए जू अमी कहिये सो तौ लागति झूठी ॥ ६६ ॥

ऐसे ही निदर्शना का वर्णन है—

अर्थ असद सद को जहाँ, होत क्रिया सों बोध।
तहाँ सु अपर निदर्शना, सुकवि कहत मति सोध॥
कच घुँघरारे जोय, यहै जनावत दुर्जनहिं।
नितहूँ बन्धन होय, तऊ न तजिये कुटिलपन॥

समासोक्ति को इन्होंने वहाँ माना है जहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत की स्फूर्ति हो। इस प्रकार इनकी अलंकारों की धारणा प्रौढ़ है; केवल लक्षणों में कहीं-कहीं अस्पष्टता है। 'चेतचन्द्रिका' में पूरे अलंकारों का वर्णन है और उदाहरणों में कवि-प्रतिभा की झलक मिलती है।

पद्माकर—पद्माकर को रीतिकाल का अन्तिम आलंकारिक कवि कहना चाहिए। कवि और रीति-ग्रन्थकार दोनों ही के रूप में पद्माकर का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। इतना ही नहीं आगे के कवियों पर भी पद्माकर की वाणी की धाक रही। 'पद्माभरण' के आधार 'चन्द्रालोक', 'भाषा भूषण', 'कविकुलकंठाभरण' और 'भाषाभरण' हैं, परन्तु बैरीसाल के 'भाषाभरण' का आदर्श अधिक ग्रहण किया गया है। कहीं-कहीं तो ऐसा जान पड़ता है कि पद्माकर ने भाषाभरण के ही छन्दों को थोड़ा बदलकर रख दिया है। तुलना के लिए देखिये—

'कहुँ पद ते कहुँ अर्थ ते, कहुँ दुहुन ते जोइ।
अभिप्राय जैसो जहाँ, अलंकार त्यों होइ।
अलंकार यह ठौर में, जो अनेक दरसाँहि।
अभिप्राय कवि को जहाँ, सो प्रधान तिन माँहि॥

(भाषाभरण)

अब पद्माकर के 'पद्माभरण' को देखिये—

'सब्दहुँ ते कहुँ अर्थ ते, कहुँ दुहुँ ते उर आनि।
अभिप्राय जिहि भाँति जहँ, अलंकार सो मानि॥
अलंकार इक थलहिं में, समुझि परै जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहाँ, वहै मुख्य गति एक॥

(पद्माभरण)

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'भाषाभरण' का आधार पद्माकर ने ग्रहण किया है। 'चन्द्रालोक' का भी कहीं-कहीं पूरा-का-पूरा भाव मिलता है, जैसे अपह्नुति का उदाहरण दोनों में एक है—

नाऽयं सुधांशुः, किं तर्हि ? व्योम गंगा सरोरुहम्।

(चन्द्रालोक)

यह न सखी, तो है कहा ? नभगंगा जलजात।

(पद्माभरण)

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव के उपरान्त देव आदि कुछ आचार्यों को छोड़कर हिन्दी के अधिकांश रीति-ग्रन्थकारों के लिए अलङ्कार-निरूपण के आधारभूत ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' रहे। रीतियुग के उपरान्त आधुनिक युग में जो ग्रन्थ अलङ्कारों पर लिखे गए हैं वे अधिकांशतः 'काव्यप्रकाश' या 'साहित्य दर्पण' के आधार पर हैं। वास्तव में जिन्होंने रीति-काल में केवल अलंकार पर ही अलग ग्रन्थ लिखे, उन्होंने 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का आधार ग्रहण किया, परन्तु जिन्होंने काव्य-शास्त्र के अन्य विषयों के साथ अलंकार को लिया है उनका आधार भी प्रायः 'काव्य प्रकाश' 'साहित्यदर्पण' आदि ग्रन्थ रहे हैं।

आधुनिक युग के आलंकारिक—रीति-साहित्य की परम्परा आधुनिक युग में आकर एकदम समाप्त हो गई हो, ऐसी बात नहीं। वास्तव में कोई भी प्रवृत्ति जो काव्य की मूल वृत्ति से सम्बन्ध रखती है और साहित्य में कुछ समय तक चलती रहती है, वह कभी एकदम समाप्त नहीं हो जाती। उसकी धारा क्षीण हो जाती है जब कोई अधिक प्रबल प्रवृत्ति जाग उठती है। इसी नियम के अनुसार लगभग दो-तीन शताब्दी तक चलकर रीति-साहित्य की परम्परा आधुनिक युग में आकर समाप्त नहीं हो जाती। रीति-साहित्य के शास्त्रीय पक्ष ने आधुनिक युग में आकर गद्य-विवेचना का रूप धारण कर लिया जिसे रीति-साहित्य न कहकर काव्य-शास्त्र कहना चाहिए; क्योंकि उसके स्वरूप में काफ़ी परिवर्तन हो गया। पर, यह भी काफी आगे चलकर। रीति-शास्त्र और रीति-काव्य दोनों की परम्परा लगभग उसी रूप में आधुनिक युग में चलती रही। जिसका विकास हम पूर्ववर्ती तीन सम्प्रदायों के रूप में देख सकते हैं। यद्यपि आधुनिक युग के रीति-शास्त्रियों की प्रवृत्ति अधिकांशतः काव्य-शास्त्र के समस्त विषयों पर लिखने की हो गई।

लछिराम—लछिराम अमोढ़ा, जिला बस्ती के निवासी पलटनराम के पुत्र थे। इनका रचना-काल विक्रमीय २०वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। ये अधिकतर बस्ती और अयोध्या के राजाओं के यहाँ रहे। ये बड़े प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ काव्य-शास्त्र पर लिखे; जैसे, 'मुनीश्वर कल्पतरु', 'महेन्द्र भूषण', 'रघुवीर विलास', 'रामचन्द्र भूषण', 'कमलानन्द कल्पतरु', 'रावणेश्वर कल्पतरु' और 'महेश्वर विलास'। अधिकांश ग्रन्थ भारत जीवन प्रेस से मुद्रित हो चुके हैं। ये ग्रन्थ अधिकतर देव के ग्रन्थों की भाँति हैं जिनमें

विषय-विवेचन लगभग वही है, कुछ परिवर्तन से दूसरे राजा के नाम कर दिये गए हैं।

'रामचन्द्र भूषण' अलङ्कार पर लिखा गया इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी रचना १९४७ वि० (सन् १८९० ई०) में अयोध्या में हुई थी। इसका संकेत करने वाला इनका छन्द यह है—

सम्वत् सुमुनि वेद, अंक विधु माघमास, सित गुरु द्वादशी मैं पूरन प्रभासी को।
बंदीजन बंश, राजहंस मानसिंह द्वार, विरद गवैया मन सब सविलासी को॥
राजा राव राने मरदाने सनमाने और, चरित अपार ब्रह्म पावन प्रकासी को।
रामचन्द्र भूषन अवध अभिराम रच्यो, लछिराम राव रामचन्द्र जसरासी को॥[1]

भिखारीदास की भाँति लछिराम ने भी यह भाव प्रकट किया है कि यदि मेरी कविता पर सुकवि प्रसन्न होंगे तो ठीक है, नहीं तो सीता-राम को स्मरण करने का यह बहाना है। यह उस युग की भक्ति-भावना को प्रकट करता है—

सुकवि रीझि हैं करि कृपा, तौ कविता लछिराम।
नतरु व्याज सो मैं रट्यो, श्री सियवर को नाम॥[2]

'रामचन्द्र भूषण' में भेदों को छोड़कर १२२ अर्थालङ्कारों, बारह शब्दालङ्कारों का वर्णन है। शब्दालङ्कारों के भीतर ७ शब्दालङ्कार और तीन वृत्तियों का वर्णन है। भूषण भी भाँति इसीके भीतर लछिराम ने भी अमृत-ध्वनि अंत में दिये हैं। अलङ्कार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

बचन छन्द बर व्यङ्ग मैं, बिलग चमक परिमान।
भूषण वत पद अर्थ मैं, अलंकार अनुमान॥ ६॥

छन्द, अर्थ, व्यंग्य आदि से भिन्न जो चमत्कार-वर्णन के भीतर आभूषण की भाँति शोभा देता है, वही अलङ्कार है। यह लक्षण अपनी मौलिक विशेषता से युक्त है। उपमालङ्कार का एक भेद लछिराम ने 'तवकोपमालङ्कार' माना है, जिसका लक्षण यह है—

अर्थ सदृश में जहँ परै, समता सम उपमान।
जहँ तहँ मिलि तवकोपमा, अलंकार परमान॥

लक्षण अधिक स्पष्ट तो नहीं है, पर नाम इसकी विशेषता का द्योतक है। परम्परित रूपक के समान इसकी विशेषता है। जैसे स्तबक में एक के भीतर दूसरा फूल रहता है वैसा ही इसका भी क्रम है। उदाहरण यह है—

शरद कलाधर सों बदन विशाल जैसो, बिहँसनि तैसी चारु चन्द्रिका उमङ्ग की।

१. रामचन्द्र भूषण, छ० ६२५।
२. वही, ,, ६२८।

युगल जसीले जिमि अरविन्द से हैं नैन, लखनि तिरीछी तिमि आनँद प्रसंग की ।।
लछिराम रामचन्द्र भुज फरकीले जैसे, तैसी बसीकरन सगुन मौज रंग की।
सिरमौर मंगलीक अवधपुरी है जैसी, तैसी धार तरल तरंगैं राम गंग की ।।[1]

लुप्तोपमा का विस्तारपूर्वक वर्णन इन्होंने किया है। इसके उदाहरण, सवैया कवित्त और बरवै छन्दों में दिये गए हैं। वाचक उपमेय लुप्तोपमा का उदाहरण है—

सरद कलाधर बिहरत मंगल साज।
बीथिन अवध विराजत नृप सिरताज ।।३७।।

वास्तव में 'रामचन्द्र भूषण' के उदाहरण बड़े सुन्दर हैं, लक्षणों में कोई विशेषता नहीं है। कुछ उदाहरण ये हैं—

लक्खन राम कलाधर से सुकलाधर लक्खन राम से सोहैं —उपमानोपमेय।
पायन से गुललाला जपा दल पंग बन्धूक प्रभा बिथरैं हैं।
हाथ से पल्लव नील रसाल के, लाल प्रभाव प्रकाश करैं हैं।।
लोचन की महिमा सी त्रिवेनी, लखे लछिराम त्रिताप हरैं हैं।
मैथिली आनन से अरबिन्द, कलाधर आरसी लाजि मरैं हैं ।।५८।।

—प्रथम प्रतीप

झपकैं मतंग झत्र राज संक परिहरि, रथैं बाजिमाला मीन सुखमा सरीर की।
मन्दर पताके बारि बानर बिराट फैले, आँचै ओज बैरिन पै बाड़व के भीर की।।
लछिराम रीछ व्याल बरत्रस बोलैं खुले, बोहित हरौल थाहैं लखन के धीर की।
आनंद अभंग राजैं तरल तरंग संग सागर गम्भीर सेना राम रघुबीर की ।।८४।।

—रूपक

बाग लतान के ओट लखी, बर-ब्रह्म बिलास हिये फरक्यो परै।
दोने भरे कर कञ्ज प्रसून, गरे वनमाल को त्यों लरक्यो लरै।
मन्दिर आई सकोच सनी, मन-ही-मन भावरै मैं भरक्यो भरै।
सावनी स्याम घटा रँग राम को मैथिली लोचन में खरक्यो करै ।।६८।।

—सुमिरन

लछिराम ने श्लेष के अन्य भेदों के साथ एक नवीन भेद की भी कल्पना की है और इस प्रकार माधुर्य संक्रमित, ओज संक्रमित और प्रसाद संक्रमित ये तीन भेद और हैं।[2] क्योंकि श्लेष शब्दों के आयोजन से सम्बन्धित है, अतः गुण तो नहीं, वृत्ति के आधार पर भेद अवश्य हो सकते हैं; क्योंकि गुण का

१. 'रामचन्द्र भूषण', छं० २०।
२. वही ,, २४१।

सम्बन्ध भाव से भी है, केवल शब्द-योजना ही से नहीं।

'रामचन्द्र भूषण' ग्रन्थ में लेखक ने कहीं-कहीं गद्य-टीका भी रखी है जिसे तिलक कहा है, जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा के भेदों में। भूषण की भाँति अन्त में अमृतध्वनि भी लिखे हैं जो वृत्तिवर्णन के प्रसंग में परुषा वृत्ति के अन्तर्गत आये हैं। कोमला वृत्ति का एक सुन्दर उदाहरण सीता के चरणों की शोभा का वर्णन है—

मिलित महावर महीन मेंहदी से बुन्द, वेषित नखन पर जोति नभ लीके हैं।
कवि लछिराम आँगुरीन पै अजब ओज, संग सौज मौजमान चंपक कली के हैं॥
भानुवंश भूषन महीप रामचन्द्र चख, सीरे होत हेरि मन मोहन थली के हैं।
पल्लव बँधूक को कनद मद गारे ठारे, जुगल जसीले पद जनक लली के हैं॥६२१॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लछिराम का अलङ्कार-विवेक अत्यन्त उत्कृष्ट है, पर प्रमुखतया इनकी प्रतिभा कवि की है, आचार्य की नहीं है।

कविराजा मुरारिदान—जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिंह के आश्रय में कविराजा मुरारिदान ने सं० १९५० में 'जसवन्त भूषण' की रचना की। मुरारिदान जी संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। इन्होंने अलंकारों को नवीन युक्ति से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यद्यपि इस ग्रन्थ के अन्तर्गत काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, गुण-रीति, अलंकार आदि सबका वर्णन है; परन्तु प्रमुखतया इसमें आलंकारिक विशेषता है। ग्रन्थ की रचना के आधार पर 'अग्निपुराण', 'नाट्य-शास्त्र,'चिन्तामणिकोष','चन्द्रालोक' आदि हैं। अतः प्रचलित प्रसिद्ध परिभाषाएँ, जो 'काव्य प्रकाश','रसगंगाधर' आदि के आधार पर हैं, इसकी परिभाषाओं से भिन्नता रखती हैं। कविराजा की मान्यता है कि समस्त अलंकारों के नाम ही स्वयं लक्षण हैं।[1] अतएव इन्होंने अलग-अलग लक्षण न लिखकर अलंकारों के नाम की व्युत्पत्ति से अपनी व्याख्या द्वारा लक्षण निकाला है जो प्रायः अस्पष्ट है। यद्यपि यह बात सत्य है कि अलंकारों के नाम मनुष्यों के नामों की भाँति निरर्थक नहीं हैं। फिर भी उनके नाम सार्थक होते हुए भी लक्षणों का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते। लक्षण प्रमुख विशेषताओं के आधार पर होते हैं जिसका स्पष्ट निर्देशन आवश्यक है; क्योंकि उससे अलंकार-विशेष का स्वरूप स्वयं को समझ में आता है और दूसरे को भी समझाया जा सकता है। प्रधानतया लक्षण एक-दूसरे के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक होते हैं। उदाहरणार्थ अत्युक्ति और अतिशयोक्ति अलंकार हैं जिनके नाम से लगभग एक ही प्रकार का बोध होता है; पर दोनों में अन्तर है। अतिशयोक्ति

१. 'जसवन्तभूषण', प्रस्तावना, पृ० ३।

एक विशेष प्रकार की उक्ति हो जाती है जिसके विविध रूप बिना अलग-अलग लक्षणों के स्पष्ट नहीं होते। अतः सार्थक नाम होते हुए भी लक्षणों की आवश्यकता होती है। कविराजा मुरारिदान ने दोनों के लक्षण इस प्रकार से दिये हैं—

अतिशयोक्ति लंघन सीमा लोक कौ, अतिशय जानहु भूप।
अतिशय की उक्ती वहै, अतिशयोक्ति कौ रूप ॥[1]

अत्युक्ति मिथ्याभूत उदारता, शूरतादि कौ भूप।
अचरजकारी वर्णन जु अत्युक्ती कौ रूप ॥[2]

यहाँ लक्षण की आवश्यकता हुई। क्योंकि लक्षण शब्द से ही निकाले गए हैं अतः वे स्पष्ट नहीं हो पाए। लोक-सीमा का उलंघन करने वाला वर्णन भी मिथ्या हो सकता है और आश्चर्यकारी भी। अतः नाम से निकाले लक्षण अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होते।

कविराजा ने चित्रकाव्य को शब्दलंकारों के भीतर नहीं माना। उनका कथन है—"प्राचीन कमलाकार, धनुषाकार इत्यादि रूप से जो काव्य लिखे जायँ उनको चित्रकाव्य कहकर शब्दालंकार के प्रभेद मानते हैं सो भूल है, क्योंकि शब्द में रहकर जो काव्य की शोभा करे वह शब्दालंकार है। सो उक्त काव्यों की लेख-क्रिया काव्य को कुछ भी शोभा नहीं देती। यह तो अष्टावधानादि साधनवत् कवि की क्रिया-चातुरी-मात्र है ऐसे ही एकाक्षर काव्य को जानना चाहिए।"[3] मुरारिदान जी का यह विचार समीचीन है, अतः यह शब्द चित्र-कला श्रवण-मात्र से आनन्द देने की विशेषता इस लेख-चमत्कार में नहीं। जबकि शब्दालंकार का चमत्कार शब्द के श्रव्य गुण से सम्बन्ध रखता है, दृश्य गुण से नहीं। अतः चित्रकाव्य का आलेख-काव्य के रूप में अलग ही स्थान होना चाहिए, शब्दालंकार के भीतर नहीं।

अर्थालंकारों के वर्णन में उपमा को कविराजा ने प्रमुख माना है अतः सबसे पहले इसी का वर्णन किया है। उसके भी लक्षण नाम से ही निकाले हैं। उपमा की उनकी व्याख्या इस प्रकार है—"उप, उपसर्ग का अर्थ है समीपता। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने 'उप सामीप्ये' 'माङ्' धातु से 'म' शब्द बना है। 'माङ्' धातु मान अर्थ में है। 'माङ्'। मान, मिति और विज्ञान ये पर्याय शब्द हैं।'''उप सामीप्यात् या मानं उपमा।" अर्थ समीपता करके

१. 'जसवन्तभूषण', पृ० ६३।
२. वही, पृ० १७६।
३. वही, प्रस्तावना, पृ० ७६।

किया हुआ मान अर्थात् विशेष ज्ञान। एक वस्तु के समीप करने से तीन प्रकार का निर्णय होता है—न्यूनता का, अधिकता का और समता का। सो वर्णनीय की न्यूनता तो मनरंजनताविहीन होने से इस शास्त्र में अग्राह्य है। अधिकता व्यतिरेक अलंकार का विषय है। सम निर्णय में उपमा अलंकार की रूढ़ि है। इस प्रकार उपमा शब्द योगरूढ़ि है। उपमा नाम अक्षरार्थ का विचार न करते हुए समस्त प्राचीन उपमा का साधर्म्य मानते हैं सो भूल है।"[1] यह व्याख्या तो विस्तृत हुई, पर उपमा की उत्प्रेक्षा और रूपक से अलग करने वाली विशेषता प्रकट न हुई और न उपमा के दो-चार अंगों का ही संकेत मिला, जिनका होना लक्षण के लिए आवश्यक है। इस प्रकार की व्याख्याओं से कविराजा की विद्वत्ता प्रकट होती है इसमें सन्देह नहीं।

कुछ अलंकार मुरारिदान जी ने अपनी ओर से जोड़े हैं, जैसे अतुल्ययोगिता, अनवसर, अप्रत्यनीक, अपूर्वरूप, अभेद, नियम आदि। इनमें अभेद और नियम को छोड़कर शेष तो प्राप्त अलंकारों तुल्ययोगिता, अवसर, प्रत्यनीक, पूर्वरूप के विलोम से ही हैं। अलंकार की दृष्टि से इनमें कोई नवीन चमत्कार नहीं, फिर भी उनकी मौलिकता अभिनन्दनीय है। रसवदादि, संसृष्टि-संकर अलंकारों का प्रचलित रीति से ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में लेखक ने एक नवीन दृष्टिकोण द्वारा अपनी मौलिकता अवश्य प्रकट की है, पर अलंकारशास्त्र के विकास में उससे कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं प्राप्त होता।

कन्हैयालाल पोद्दार—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत रामगढ़ (सीकर) में सन् १८७१ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम जयनारायण था। अपने घराने और मारवाड़ी समाज में इनका बड़ा सम्मान है। मथुरा में ही इनका निवासस्थान है। १६५३ में इन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया था। व्यापारी कुल में होते हुए भी इनका काव्यानुराग सराहनीय है। अनेक रचनाएँ इनकी प्रकाशित हुई हैं। रीतिसाहित्य की दृष्टि से दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अलंकार मंजरी' और 'रस मंजरी' हैं। इनकी *अलंकार मंजरी* अलंकार पर लिखी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक है। अलंकार-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के अध्ययन के उपरान्त इसकी रचना की गई। पोद्दार जी के विचार से शब्द-वैचित्र्य और अर्थ-वैचित्र्य के कारण अलङ्कार दो प्रकार के हैं—शब्दालंकार और अर्थालङ्कार। पोद्दार जी ने दण्डी और भामह के मतानुसार अतिशय उक्ति या वक्रोक्ति को ही अलङ्कार का प्राण माना है।

१. 'जसवन्तभूषण', पृ० ८२।

इसी प्रसंग में इन्होंने कविराजा मुरारिदान के इस मत का खण्डन भी किया है कि अलङ्कारों के नाम ही उनके लक्षणों को स्पष्ट करते हैं और अलग से लक्षण देने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने लिखा है कि अलङ्कारों का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिए शुद्ध लक्षण की आवश्यकता है, केवल नाम से ही काम नहीं चल सकता। इसी मत को मानते हुए प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारों के अलग-अलग लक्षण भी निर्धारित किये हैं। अलङ्कारशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास और अलङ्कारों की संख्या के विकास पर भी पोद्दार जी ने ग्रन्थ की भूमिका में प्रकाश डाला है।

पोद्दार जी ने 'अलङ्कार मंजरी' में अलंकारों के वर्गीकरण पर भी विचार किया है, जो रुद्रट, रुय्यक और मंखक के आधार पर हैं। रुद्रट ने वर्गीकरण के चार ही आधार लिये हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय और अर्थ-श्लेष; पर रुय्यक के सात वर्ग अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ की भूमिका में अलंकार-सम्बन्धी धारणा का विकास दिया गया है। पुस्तक में एक-एक अलंकार की परिभाषा, व्याख्या और उदाहरण दिये गए हैं। इसमें भेदोंसहित ६ शब्दालंकार, १०० अर्थालंकार, ४ संसृष्टि और संकर अलंकारों का वर्णन है। अलंकारों के वर्णन में एक विशेष बात यह है कि इसमें अन्य आचार्यों के भी उदाहरण देकर उनकी विवेचना की गई है। अलंकार के भेदों पर भी इस ग्रन्थ में विस्तार से विचार किया गया है और अनेक भेद, जिनका उल्लेख पोद्दार जी ने किया है, प्रायः अन्य आचार्यों ने नहीं दिये हैं, जैसे उपमा के श्लेषोपमा, वैधर्म्योपमा, नियमोपमा, समुच्चयोपमा आदि, रूपक के समस्तवस्तु विषयक, एकदेशीयवर्ति, युक्त, अयुक्त, हेतु आदि तथा अतिशयोक्ति का कारणातिशयोक्ति भेद। पोद्दार जी की व्याख्याएँ बड़ी स्पष्ट हैं, पर अपने को दूसरों से बढ़कर मानने का भाव अनेक स्थानों में देखने को मिलता है। इसमें इनके स्वरचित उदाहरण अधिक रोचक नहीं। इस ग्रन्थ के अन्त में अलंकार-दोषों का भी वर्णन है। ये दोष अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति एवं अप्रस्तुतप्रशंसा-दोष के रूप में वर्णित हैं। दोष सभी अलंकारों में हो सकते हैं, अतः इन्हीं में दोष ठीक नहीं है। ये दोष भी अन्य दोषों के अन्तर्गत आ सकते हैं, अतः दोषों का यह अंश अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। 'अलंकार मंजरी' का स्थान हिन्दी के अलंकार-सम्बन्धी प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में है।

भगवानदीन 'दीन'—लाला भगवानदीन 'दीन' का जन्म सन् १८६६ ई० में हुआ था। इनके जीवन का प्रारम्भिक काल बुन्देलखण्ड में ही बीता और

इन्होंने हिन्दी के प्राचीन काव्य का अनुरागपूर्वक अध्ययन किया था। बुन्देलखण्ड के साहित्यानुराग को लेकर यह काशी आये। पहले व्रजभाषा में पुराने ढंग की कविता करते थे, परन्तु 'लक्ष्मी' के सम्पादक होने के बाद यह खड़ी बोली की कविताएँ करने लगे। खड़ी बोली की इनकी ये रचनाएँ उर्दू शैली से प्रभावित हैं। इनके तीन काव्य 'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक', 'वीर पंचरत्न' हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की मर्मस्पर्शिनी टीका कर काव्य के प्रति अनुराग उत्पन्न किया। 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादन में भी लालाजी ने भाग लिया और काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक रहे। 'दीन' जी का देहावसान जुलाई सन् १९३० ई० में हुआ। अलंकार पर इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अलंकार मंजूषा' है। इसका प्रथम प्रकाशन सन् १९१६ ई० में हुआ। अलंकार-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों में इसका बहुत अधिक प्रचार रहा। पुस्तक चार पटलों में विभक्त है। पहला पटल शब्दालंकार का है, जिसमें १० अलंकार हैं। दूसरा अर्थालंकार का है, जिसमें भेदोंसहित १०८ अलंकारों का वर्णन है। तीसरा पटल उभयालंकार का है, जिसके अन्तर्गत संसृष्टि और संकर अलंकार तथा उनके भेदों का वर्णन है। चौथा दोष पटल है, जिसमें तीन दोषों—प्रसिद्धाभाव, वैफल्य और वृत्ति-विरोध—यमक के दोष, शब्दालंकार के दोष तथा अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति और अन्योक्ति के दोष वर्णित हैं। दीन जी रसवदादि अलंकारों को नहीं मानते, अतः उनका वर्णन इसमें नहीं किया गया है।

'अलंकार मंजूषा' में अलंकारों के लक्षण दोहों में तथा उदाहरण दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त, छप्पय, बरवै आदि अनेक छन्दों में दिये हुए हैं लक्षण इनके स्वरचित हैं, जिस पर भी इन्होंने कहीं-कहीं गद्य-व्याख्या द्वारा उनकी विशेषता तथा दूसरे अलंकारों से अन्तर को स्पष्ट किया है। लक्षण के दोहे जहाँ-कहीं भी अस्पष्ट हैं वे व्याख्या या सूचना से पूर्ण स्पष्ट हो जाते हैं। उदाहरणों की रोचकता 'दीन' जी की 'अलंकार मंजूषा' में अद्वितीय है। हिन्दी के लगभग सभी उत्कृष्ट कवियों की रचनाओं से चुन-चुनकर उदाहरण जुटाये गए हैं जो स्मरणीय हैं। साथ-ही-साथ दीन जी ने लक्षण को पूर्णतया हृदयंगम कराने के लिए अनेक उदाहरण दिये हैं। कवित्व और सरसता 'अलंकार-मंजूषा' के उदाहरणों में विद्यमान है। अलंकारों पर यह सरल और रोचक ग्रन्थ है, परन्तु ग्रन्थ के अन्तर्गत लक्षणों और उदाहरणों में दोष विद्यमान हैं। इनके कुछ उदाहरण लक्षण से मेल नहीं खाते, जैसे सम तद्रूप रूपक के उदाहरण में इनका नीचे लिखा छन्द है—

'छाँह करै छिति मंडल को सब ऊपर यों मतिराम भये हैं।
पानिप को सरसावत हैं सिगरे जग के मिटि ताप गये हैं।
भूमि पुरन्दर भाऊ के हाथ पयोदन ही के सुकाज ठये हैं।
पंथिन के पथ रोकिबे को बने वारिद वृन्द वृथा उनये हैं।

इस छन्द की अन्तिम पंक्ति में 'दीन' जी के ही लक्षण के अनुसार पाँचवाँ प्रतीप[1] होना चाहिए। अतः रूपक का नहीं, वरन् प्रतीप का इसमें प्राधान्य है। फिर यदि तीसरी पंक्ति में रूपक माना जाय तो भी तद्रूप नहीं है, क्योंकि तद्रूप की विशेषता भली-भाँति निखरती नहीं। तद्रूप में अन्य, अपर, दूसरा आदि शब्द आना आवश्यक होता है। मूलतः यह दोष मतिराम का है जो लालाजी ने भी उद्धृत कर लिया है।

इसी प्रकार 'अत्यन्तातिशयोक्ति' का लक्षण है कि जहाँ हेतु के प्रथम ही कार्य प्रकट होवें।[2] इसमें अनेक अन्य उदाहरणों के साथ एक उदाहरण यह भी है—

पद पखारि जल पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहिं पुनि मुदित गयउ लै पार॥

इसमें कार्य है 'पितर पार करना' और पितर पार करने का कार्य राम के पार उतारने के पहले हुआ। पर पार उतारने के कार्य को कारण नहीं कहा जा सकता। कारण 'पद पखारना' है जो क्रमानुसार कार्य के पहले हो चुका है। अतः उदाहरण लक्षण के उपयुक्त नहीं है। इस छन्द में तो पार का दो प्रसंगों में प्रयोग ही चमत्कारपूर्ण है।

'दीन' जी ने अलंकारों के लक्षण में कहीं-कहीं परम्परागत परिभाषा से अधिक व्यापक परिभाषा दी है, जैसे स्मरण अलंकार के प्रसंग में। 'दीन' जी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—"यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने इस अलंकार की परिभाषा ऐसी लिखी है कि—

"सदृश वस्तु लखि सदृश की सुधि आवै जेहि ठौर।
सुमिरन भूषन तेहि कहैं सकल सुकवि सिर मौर॥"

---

१. उपमेय के मुकाबिले व्यर्थ होय उपमान।
पंचम भेद प्रतीप को ताहि कहत गुनवान॥
—'अलङ्कार मंजूषा', पृ० ५३, पंचम संस्करण।

२. जहाँ हेतु के प्रथम ही प्रगट होत है काज।
अत्यन्तातिशयोक्ति तेहि कहैं सकल कविराज॥
—'अलङ्कार मंजूषा', पृ० ६४

परन्तु हिन्दी-साहित्य में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि प्राचीनों का यह लक्षण पर्याप्त नहीं है। इसीसे हमने इस अलंकार की नवीन परिभाषा गढ़ी है। कारण यह है कि या तो इसको अलंकार ही न मानना चाहिए या अलंकार मानना ही है तो केवल सदृश वस्तु को देखकर सदृश वस्तु की सुधि आने में ही क्यों माना जाय ? सब दशाओं में क्यों न माना जाय ?"

—'अलंकार मंजूषा', पृ० ६६।

अतएव 'दीन' जी की अपनी परिभाषा है—

"कछु लखि, कछु सुनि, सोचि कछु सुधि आवे कछु खास।
सुमिरन ताको भाखिये बुधवर सहित हुलास॥"

इस प्रकार लक्षणों का विकास भी कविता के विकास के साथ-साथ आवश्यक है। आचार्यता के उत्कृष्ट गुण न होते हुए भी 'अलङ्कार मंजूषा' उपयोगी पुस्तक है। इसमें 'दीन' जी की काव्य-रसिकता प्रकट हुई है। इसकी एक और विशेषता यह है कि हिन्दी के साथ-साथ फ़ारसी और कहीं-कहीं अंग्रेज़ी के भी सदृश अलंकारों के नाम इसमें दिये गए हैं। इसीसे यह अलङ्कार पर अत्यन्त प्रिय पुस्तक रही है।

रामशंकर शुक्ल 'रसाल'—रीति-साहित्य के रसिक डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' पहले प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक थे और आजकल सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में रीडर हैं। इनका ग्रन्थ 'अलङ्कार पीयूष' बड़े परिश्रम और अध्ययन का परिणाम है। लगभग समस्त महत्त्वपूर्ण संस्कृत और हिन्दी ग्रन्थों के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है, पर इसका स्थान अलङ्कारों पर लिखे अन्य ग्रन्थों से भिन्न है। इस ग्रन्थ में अन्य लक्षण-ग्रन्थों की भाँति केवल अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण ही नहीं दिये गए, वरन् इसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों में नहीं हैं। इसमें प्रारम्भ में संक्षेप में संस्कृत और हिन्दी-अलङ्कारशास्त्र का इतिहास दिया गया है, जिसमें अलङ्कार का महत्त्व एवं रसध्वनि आदि से इसके सम्बन्ध का भी विवेचन है। इस ग्रन्थ में 'अलङ्कार मंजरी' के समान अलङ्कारों की संख्या में संस्कृत और हिन्दी-लेखकों द्वारा जो विकास किया गया है, उसका भी उल्लेख है। इसके साथ-ही-साथ प्रत्येक अलङ्कार के लक्षण, प्रकार आदि से सम्बन्ध रखने वाला जो मतसाम्य, मतवैषम्य अथवा विकास है, उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न इसमें किया गया है। इसमें अलङ्कारों के भेदों और प्रभेदों का विस्तारपूर्वक विवरण है और यह भी समझाया गया है कि एक अलङ्कार और उससे साम्य रखने वाले दूसरे

अलङ्कारों में क्या सूक्ष्म भेद है। इसके अतिरिक्त नवीन वर्गीकरण, नवीन आधार और नवीन अलङ्कारों का विवरण भी देने का प्रयत्न हुआ है। उदाहरणार्थ वर्णकौतुक के वैचित्र्य-विनोद, व्यवस्था-वैचित्र्य, गुणोद्‌घाटन, वचनवक्रता, जिज्ञासा, वाक्छल आदि तथा उभयालङ्कार से भिन्न मिश्रालङ्कार, आद्यनुप्रास, न्नापालङ्कार आदि का वर्णन इसमें नवीन है। इससे स्पष्ट है कि लेखक ने एक-एक अलङ्कार पर काफी तुलनात्मक अध्ययन किया है। इसके लक्षण और विवेचन गद्य में ही हैं, साथ ही उदाहरण रूप भी पद्य का अधिक व्यवहार नहीं हुआ है। इससे इसकी विवेचनात्मक प्रवृत्ति स्पष्ट होती है।

'अलङ्कार पीयूष' के दो भागों में शब्दालङ्कार, रसालङ्कार, भावालङ्कार और अर्थालङ्कार का वर्णन पूर्वार्द्ध में और शेष अर्थालङ्कारों का वर्णन उत्तरार्द्ध में है। काव्यालङ्कार शब्द को काव्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए 'रसाल' जी ने इसे शास्त्र और कला दोनों ही के अन्तर्गत रखा है। परन्तु काव्यशास्त्र या अलङ्कार का विवेचन तो शास्त्र ही है, कला नहीं। कला तो अलंकार का काव्य में प्रयोग ही है। 'रसाल' जी की दृष्टि से भाषा को अलंकृत करने और काव्य में वैलक्षण्य लाने के लिए अलङ्कारों की बड़ी आवश्यकता है। उक्तिवैचित्र्य द्वारा ही कवि का कवित्व प्रकट होता है। विचार का प्राधान्य काव्य के लिए उतना आवश्यक नहीं जितना उक्तिवैचित्र्य। इसी प्रकार 'रसाल' जी का कथन है कि रस, भावादि की प्रधानता काव्य में अपना विशेष स्थान नहीं रखती, उसका यथार्थ क्षेत्र तो नाटक है।[1] यह धारणा भामह, दंडी आदि की परम्परा में 'रसाल' जी को प्रतिष्ठित करती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य काव्यात्मा की खोज करते-करते जिस तथ्य पर पहुँचे थे, वह प्रकट करता है कि अलंकार काव्य का प्रधान अंग नहीं, यहाँ तक कि मम्मट ने तो अपनी परिभाषा में 'सगुणावनलंकृती' कहकर अलंकारों की अप्रधानता सिद्ध कर दी है। काव्यात्मा के नवीन खोजियों ने ध्वनि और रस को ही काव्य में प्रधान माना है, अलंकार को गौण। 'रसाल' जी अलंकार के प्रतिपादन में 'वैलक्षण्य' का आधार मानते हैं, पर यह उक्तिचमत्कार या वैलक्षण्य ध्वनि और वक्रोक्ति के भीतर भी है। अतः अलंकारों के विषय में 'रसाल' जी का मत यही सिद्ध करता है कि वे प्रारम्भिक अलंकारशास्त्रियों भामह, दंडी आदि के मतानुयायी हैं। वे गद्य-काव्य के लिए भी अलंकारों का प्रयोग आवश्यक समझते हैं।

१. 'अलंकार पीयूष', पू० पृ० १८।

शब्दालंकारों के आधारभूत सिद्धान्तों पर विचार करते हुए 'रसाल' जी ने यह दिखाया है कि पुनरुक्ति (जो वर्णावृत्ति, पदावृत्ति और शब्दावृत्ति के रूप में प्रकट होती है), प्रयत्नलाघव (जिसमें उच्चारण सुगमता के आधार पर वृत्तियों का निरूपण हुआ है), ध्वनिसाम्य (जिसके आधार पर अनुप्रास का जन्म हुआ है), कौतुक-कौतूहल-प्रियता (जो चित्रकाव्य का आधार है) तथा जटिलता और उलझनप्रियता (जो प्रहेलिका, दृष्टिकूट आदि को जन्म देता है) अलंकार के आधार हैं। अन्तिम प्रवृत्ति न केवल शब्दालंकार के ही मूल में है, वरन् अनेक अर्थालंकार, जैसे अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति, पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि, के भी मूल में उपस्थित मिलती है। 'रसाल' जी का अपना विचार चाहे जो-कुछ हो, पर उन्होंने अन्य आचार्यों के मत को भी प्रकट कर दिया है कि काव्य-सौन्दर्य के दो रूप हैं—एक अन्तरंग, जिसमें काव्य की आत्मा का निरूपण करके रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के सिद्धान्त खड़े किये गए हैं और दूसरा बहिरंग सौन्दर्य है, जिसमें अलंकार के संकीर्ण रूप उपमादि पर विचार किया जाता है। मैं समझता हूँ कि इस मत से किसी-का विरोध नहीं हो सकता।

'अलंकार पीयूष' में हिन्दी अलंकारशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास भी है, पर वह अधूरा है। 'रसाल' जी ने देव को केवल अलंकार पर लिखने वाला आचार्य बताया है, जबकि उनके 'काव्यरसायन' और 'भावविलास' आदि ग्रन्थ ध्वनि और रस पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ हैं। साथ ही इसमें प्रमुख आचार्यों, जैसे चिन्तामणि, सूरति, श्रीपति, सुखदेव आदि, का वर्णन ही नहीं है। केशव, मतिराम, भूषण, पद्माकर और लछिराम आदि का ही उल्लेख और इनकी रचना का ही उपयोग किया गया है। अनेक स्थानों पर उदाहरणों की कमी खटकती है।

दासजी के 'काव्यनिर्णय' के आधार पर 'रसाल' जी ने तुक का व्यापक विवरण दिया है। उनके विचार से मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत तुक का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि आजकल, जबकि अतुकान्त कविता का इतना अधिक प्रचार है, 'रसाल' जी के विचार से सहमत होने वाले व्यक्ति अधिक नहीं होंगे। 'रसाल' जी का तुक का व्याकरणात्मक और व्रजभाषात्मक वर्गीकरण अधिक समीचीन दृष्टिगत नहीं होता; क्योंकि दोनों के अलग-अलग आधार हैं, एक नहीं।

'पुनरुक्तिवदाभास' अलंकार 'रसाल' जी की दृष्टि से अर्थालंकार के भीतर होना चाहिए, जबकि अन्य आचार्यों ने इसे शब्दालंकार माना है।

पुनरुक्तिवदाभास वास्तव में शब्दालंकार ही मानना चाहिए; क्योंकि इसमें प्रमुखतः शब्द का चमत्कार है, जिसका प्रमाण यह है कि यदि उस शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख दिया जाय तो चमत्कार जाता रहता है।

'अलंकार पीयूष' में अलंकारों के लक्षण प्रमुख आचार्यों के आधार पर दिये गए हैं, अतः अलंकार-सम्बन्धी धारणा में क्या विकास हुआ है, यह स्पष्ट हो जाता है। पोद्दार जी की भाँति 'रसाल' जी के भी स्वरचित उदाहरण अधिक रमणीय नहीं। साथ ही उदाहरण देने के बाद उसकी व्याख्या न होने से उदाहरण कहाँ तक लक्षण के अनुरूप हैं, यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता। फिर भी 'अलंकार पीयूष' विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है और हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थों में इसका अपना निजी स्थान है।

अर्जुनदास केडिया—श्री अर्जुनदास केडिया का जन्म सन् १८८७ ई० में जयपुर राज्य के महनसर गाँव में हुआ था। यह अग्रवाल वैश्य थे। इनके पितामह सेठ नन्दराम का बीकानेर दरबार में बड़ा सम्मान था। अर्जुनदास का बाल्यकाल इन्हींके बसाये 'रतन नगर' में बीता। इनके गुरु गणेशपुरी जी थे। यह संस्कृत, फ़ारसी, गुजराती, गुरुमुखी, उर्दू और हिन्दी का अच्छा ज्ञान रखते थे। यह कवि और आलोचक दोनों ही थे। इनकी कविताओं का संग्रह 'काव्य कलानिधि' नाम से छपा है। केडिया जी का गार्हस्थ्य-जीवन सुखमय रहा। इनके दो पुत्र हैं, जो स्वयं ही कविता-प्रेमी हैं। केडिया जी ने श्रृङ्गार, नीति, वैराग्य, सभी विषयों पर कविताएँ लिखी हैं। अलंकार पर इन्होंने सन् १९२८ ई० में 'भारती भूषण' ग्रन्थ की रचना की।

भारती भूषण—सेठ अर्जुनदास केडिया की लिखी अलंकारों पर सुन्दर पुस्तक है। अलंकारों पर लिखी हुई अनेक पुस्तकों में विवेचन, परिभाषा और उदाहरण की दृष्टि से यह बड़ी ही उत्तम पुस्तक है। रीतिकाल में लिखी गई पुस्तकों में और उसके पश्चात् भी उसी परम्परा पर लिखे गए ग्रन्थों में प्रायः लक्षण भी पद्य में दिये हुए हैं। अधिकांश ग्रन्थों में उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं। इस ग्रन्थ में दोनों ही त्रुटियों को दूर कर दिया गया है। अलंकार-शिक्षा के लिए यह बड़ा ही उपयोगी और शुद्ध ग्रन्थ है। 'भारती भूषण' में लेखक ने अन्य आलंकारिकों की भाँति केवल मूल अलंकारों के ही लक्षण नहीं दिये, वरन् उनके समस्त भेद-प्रभेदों के भी लक्षण दिये हैं। उदाहरण रूप में आये छन्द संस्कृत के अनुवाद नहीं हैं, वरन् भाषा-कवियों की मौलिक रचनाएँ हैं।

केडिया जी ने अपने ग्रन्थ में 'अलंकारप्रकाश' (पोद्दार) तथा 'अलंकार मंजूषा' (दीन) ग्रन्थों में उद्धृत उदाहरणों को नहीं रखा है। इन ग्रन्थों में हिन्दी-काव्य के सुन्दर उदाहरण पहले ही आ गए हैं, अतएव उनके अतिरिक्त उदाहरणों को ढूँढ़ने में ग्रन्थकार ने काफी परिश्रम किया है। साथ ही लक्षण के बाद इसमें उदाहरण देकर ही छोड़ नहीं दिया गया, वरन् उसके बाद आवश्यक स्थलों पर भाव स्पष्ट करके लक्षण से मिलान किया गया है। ग्रन्थ के भीतर सूचनाओं में सदृश भासित होने वाले अलंकार के साथ क्या साम्य और क्या वैषम्य है, यह स्पष्ट कर दिया गया है। लेखक ने अनेक कवियों के छन्दों को उदाहरण रूप में संकलित करने के साथ-साथ स्वरचित सुन्दर उदाहरण भी प्रचुर मात्रा में दिये हैं।

'भारती भूषण' ग्रन्थ में सबसे महत्त्वपूर्ण अंश उसकी टिप्पणियाँ और सूचनाएँ हैं, जिनमें लेखक ने अपनी खोजपूर्ण बातें प्रकट की हैं। उपनागरिका वृत्ति के साथ टिप्पणी में केडिया जी ने लिखा है कि अ आ इ ई आदि स्वर अक्षर सभी वृत्तियों में आ सकते हैं। कोमला और उपनागरिका में ह्रस्व रूप और परुषा में दीर्घ रूप उपयुक्त होते हैं। भाषा-ग्रन्थों में इस पर विचार नहीं किया गया, फिर भी स्वर का अनुप्रास हो सकता है[1], जैसे "उयौ आज आनहि अवनि अलि अकलंक मयंक।" इससे स्वर का अनुप्रासत्व तो सिद्ध हो गया, पर यह भी स्पष्ट है कि जो लालित्य व्यञ्जन के अनुप्रास में है वह स्वर में नहीं। स्वर में एक अटक आ जाती है। अनुप्रासों के प्रसंग में केडिया जी ने राजपूताना के बारहठ कवियों के छन्दशास्त्र में पाये जाने वाले 'वैण सगाई' अलंकार का भी उल्लेख किया है, जिसमें यह नियम है कि जो अक्षर छन्द के किसी चरण के आदि में आता है वह कम-से-कम एक बार और उसी चरण में आना चाहिए। यह एक प्रकार का छेक या वृत्ति अनुप्रास है।

लुप्तोत्प्रेक्षा (जिसे गम्योत्प्रेक्षा या व्यंग्योत्प्रेक्षा भी कहते हैं) के सम्बन्ध की सूचना में केडिया जी ने लिखा है कि इसका विकास हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा ही में देखा जाता है, वस्तूत्प्रेक्षा में नहीं; क्योंकि हेतु और फल में वाचक शब्द के अभाव में उत्प्रेक्षा व्यंजित हो जाती है, जबकि वस्तूत्प्रेक्षा में ऐसा सम्भव नहीं। गम्योत्प्रेक्षा-सम्बन्धी यह विशेषता अभी तक किसी आचार्य ने नहीं बतलाई। गम्योत्प्रेक्षा के उदाहरणों से यह बात सिद्ध

१. 'भारती भूषण', पृ० ८ टिप्पणी।
२. ,, पृ० १३५।

हो जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि केडिया जी का अलंकार-सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म और तात्त्विक है।

'दीपक' अलंकार की सूचना में दीपक और तुल्ययोगिता का अन्तर दिखाते हुए केडिया जी ने यह बताया है कि 'तुल्ययोगिता' वहाँ होती है जहाँ केवल उपमेयों अथवा केवल उपमानों का एक धर्म कहा जाता है; परन्तु 'दीपक' में उपमेय और उपमान का एक धर्म कहा जाता है और वह धर्म केवल क्रिया के धर्म में सीमित है[१], गुण में नहीं, जैसा कि अन्य आचार्यों ने लिखा है ('अलंकार मंजूषा', दीपक का उदाहरण), क्योंकि दीपक के सभी भेद क्रिया से ही सम्बन्धित हैं और वामनाचार्य के सूत्र एवं साहित्यदर्पण की टीकाओं से भी यह स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्योक्ति और सारूप्यनिबन्धना को एक सिद्ध करके लेखक ने समासोक्ति का भेद बड़ी स्पष्टता के साथ निरूपित किया है। अन्योक्ति में अप्रस्तुतार्थ के वर्णन द्वारा प्रस्तुतार्थ सूचित किया जाता है, जबकि समासोक्ति प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुतार्थ का बोध कराती है और इस दृष्टि से यह अन्योक्ति के ठीक विपरीत है।

इसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ अतद्गुण अलंकार के साथ हैं। 'केडिया' जी का मत है कि तद्गुण और अतद्गुण के भीतर जो गुण-ग्रहण सम्बन्धी बात कही जाती है उसमें गुण का तात्पर्य केवल रंग से लेने वाले अधिकांश आचार्य हैं। 'कुवलयानन्द' के आधार पर इन्होंने गुण को रूप-रस-गन्धादि वाचक माना है। यह उदाहरणों द्वारा सिद्ध भी हो जाता है। इसके बाद ही उल्लास-अवज्ञा तथा तद्गुण-अतद्गुण का अन्तर दिखाते हुए उन्होंने लिखा है कि प्रथम में एक के गुण से दूसरे का गुणी होना या न होना क्रमशः दिखाया जाता है; परन्तु यथार्थ में गुण-ग्रहण का तात्पर्य नहीं, जबकि तद्गुण और अतद्गुण में गुण के ग्रहण करने का ही तात्पर्य होता है।[२] इस प्रकार केडिया जी ने अलंकार का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है।

केडिया जी ने ग्रन्थ के अन्त में किस अलंकार में काव्यशास्त्र का कौन-सा विषय वर्णित होता है, इस सम्बन्ध में अपना अनुमान व्यक्त किया है। लेखक का यह प्रयत्न अलंकार, रस और शब्दशक्ति को सम्बन्धित करने का है, पर यह सर्वथा सत्य नहीं माना जा सकता। अनेक प्रसंगों में अनुमानित विषयों से विपरीत भाव या विषय का वर्णन हुआ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि केडिया जी का 'भारती भूषण' ग्रन्थ

१. 'भारती भूषण', पृ० १५५।

२. ,, ,, पृ० ३२२।

अलंकारों का सुन्दर, रोचक और शुद्ध ग्रन्थ है। अलंकार-सम्बन्धी विशेष और सूक्ष्म ज्ञान के लिए यह महत्त्वपूर्ण है। केडिया जी के निजी विचार न केवल उनके अलंकार-सम्बन्धी सूक्ष्म ज्ञान को प्रकट करते हैं, वरन् उनके मौलिक चिन्तन की भी विशेषता प्रकाशित करते हैं।

मिश्रबन्धु—मिश्रबन्धुओं में से पं० शुकदेव बिहारी मिश्र और उनके भतीजे पं० प्रतापनारायण मिश्र दोनों ने मिलकर 'साहित्य पारिजात' लिखा है। मिश्रबन्धुओं का साहित्यानुराग प्रख्यात और प्रेरक है। इनके 'हिन्दी-नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु विनोद' साहित्य के विद्यार्थियों और विद्वानों, दोनों के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रदान करते हैं। इनके अनेक रचनात्मक और आलोचनात्मक ग्रन्थ, लेख और भूमिकाएँ सब मिलकर इन्हें व्यक्ति के गौरव से उठाकर एक साहित्यिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। लखनऊ के ये बुज़ुर्ग साहित्यिक थे। मिश्रबन्धु तीन भाइयों—पं० गणेशबिहारी, रावराज़ा डॉक्टर श्यामबिहारी तथा रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी—मिश्रत्रय का नाम था। पर अब सभी स्वर्गवासी हो गए। इनके भतीजे पं० प्रतापनारायण जी ही इस परिवार के साहित्यानुरागी व्यक्तियों में हैं। रीतिकालीन साहित्य के अनुरागी और विशेषज्ञ पं० शुकदेव बिहारी जी की प्रौढ़ावस्था में लिखा गया इनका रीति-साहित्य पर ग्रन्थ 'साहित्य पारिजात' है। इसके प्रथम खण्ड में मुख्यतया अलंकारों का ही विवेचन है।

'साहित्य पारिजात'[1] में लक्षण गद्य में हैं और उन लक्षणों की खोलकर व्याख्या भी की गई है। साथ ही उदाहरणों में आये छन्दों का भी लक्षणों के साथ मेल मिलाने के लिए व्याख्या है। उदाहरण के अधिकांश छन्द रीतिकालीन कवियों की रचनाओं से चुने गए हैं। भूमिका में बहुत ही संक्षेप में काव्यशास्त्र पर लिखने वाले कुछ हिन्दी-कवियों का परिचय है। उनका विचार है कि अधिकांश हिन्दी-रीतिशास्त्र पर लिखने वालों को उदाहरण देने में ही सफलता मिली है, उनके द्वारा गहरा शास्त्रीय और वैज्ञानिक विवेचन नहीं हो पाया। 'साहित्य पारिजात' के प्रथम खण्ड में काव्य की परिभाषा देने का प्रयत्न किया गया है; 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण', 'रसगंगाधर' 'साहित्य परिचय', 'रसरहस्य' आदि में दिये गए लक्षणों पर विचार करने के उपरान्त अपने ही लक्षण को अधिक ठीक ठहराया गया है। मिश्रबन्धुओं का लक्षण है कि जहाँ वाक्य या अर्थ कोई भी रमणीय हो, वही काव्य है।[1] वाक्य की रमणीयता से तात्पर्य शब्द की रमणीयता से ही जान पड़ता है।

१. 'साहित्य पारिजात', पृ० २।

यह लक्षण अगर इस रूप में दिया जाता कि जिसमें शब्द या अर्थ की रमणीयता हो, वह रचना काव्य है, तो अधिक स्पष्ट हो जाता। इसके बाद ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर शब्द, शब्दशक्ति और अर्थ पर विचार किया गया है, पर ध्वनि का प्रसंग इस खण्ड में नहीं है। उसके पश्चात् अलंकार का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

'साहित्य पारिजात' में अलंकारों के तीन भेद—शब्द, अर्थ और मिश्र किये गए हैं। मिश्रालंकार के अन्तर्गत संसृष्टि और संकर का वर्णन है। यह मिश्रालंकार 'रसाल' जी के 'अलंकार पीयूष' में वर्णित मिश्रालंकार से भिन्न है, क्योंकि मिश्रबन्धु का कथन है कि मिश्रालंकार में दोनों प्रकार के या एक ही भाँति के एकाधिक अलंकार मिले रहते हैं।[1] इस प्रकार इस वर्ग के भीतर उभय, मिश्र, संसृष्टि और संकर सभी हैं। 'रसाल' जी की मिश्रालंकार की धारणा दूसरी ही प्रकार है—

"जब एक ही प्रकार के दो अलंकार एक साथ मिलकर ऐसी एकरूपता धारण कर लेते हैं कि वे पृथक् नहीं किये जा सकते, यद्यपि दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट है, तब मिश्रालंकार की उपस्थिति मानी जाती है।"[2]

उभयालंकार के समान मिश्रालंकार शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध न रखता हुआ केवल अर्थालंकारों से ही घनिष्ठ और पूर्ण सम्बन्ध रखता है। इसमें शब्दालंकार का कोई भी अंश नहीं रहता। दो अर्थालंकारों के समानरूपेण सम्मिश्रण से एक विशिष्ट अलंकार के रूप में रसायन के समान यह नवीन रूप और सत्ता रखता है। इस विशेषता के कारण मिश्रालंकार संकर और संसृष्टि नामी अलंकारों से भी भिन्न है। 'रसाल' जी ने इसे संसृष्टि और संकर से भी भिन्न इस कारण माना है, क्योंकि संसृष्टि में तिल-तन्दुल न्याय से और संकर में नीर-क्षीर न्याय से दोनों मिल तो जाते हैं, पर कोई भिन्न नवीन रूप धारण नहीं करते। मिश्रालंकार के सम्बन्ध में 'रसाल' जी की यह धारणा तो ठीक है, पर उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ में रूपकातिशयोक्ति, संशयोपमा, भ्रान्त्यापह्नुति आदि को अर्थालंकारों के ही भीतर रखा है, जबकि इन्हें मिश्रालंकार के भीतर होना चाहिए। इस दृष्टि से उपयुक्त वर्गीकरण तो होगा शब्द, अर्थ, उभय और मिश्र तथा उभय और मिश्र के संसृष्टि, संकर और रसायन। इस वर्गीकरण में अन्तिम भेद 'रसायन' वास्तव में 'रसाल' जी की धारणा का अलंकार है। परन्तु मिश्रबन्धु की धारणा इससे भिन्न है। उन्होंने

१. 'साहित्य पारिजात', पृ० ४७।
२. 'अलंकार पीयूष', पृ० २६२, २६३।

मिश्रालंकार, उभय, संसृष्टि, संकर, सभी के लिए प्रयुक्त किया है। मिश्रबन्धुओं का विचार है कि अलंकारों का कोई अत्यन्त वैज्ञानिक वर्गीकरण ठीक नहीं बैठता।[1]

अलंकारों के विवेचन में 'साहित्य पारिजात' में कहीं-कहीं अत्यन्त नवीन और मौलिक धारणाएँ भी मिलती हैं। इसमें सामान्यतः प्रत्येक अलंकार की धारणा को स्पष्ट किया गया है। व्याख्याएँ स्पष्ट और रोचक हैं। ये 'अलंकार पीयूष' से भी अधिक पूर्ण और 'अलंकार मंजरी' से अधिक रोचक हैं। भेदों के अतिरिक्त १२४ अलंकारों का इसमें वर्णन है। यथास्थान अलंकारों के वर्णन में संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों के मतों का उल्लेख भी किया गया है। अलंकारों के विवेचन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ ये हैं—

१. 'साहित्य पारिजात' में चतुर्थ प्रतीप और व्यतिरेक के भेद को स्पष्ट किया गया है। लेखकों का विचार है कि चतुर्थ प्रतीप में उपमान उपमेय की बराबरी नहीं कर पाता, यह लक्षण माना जाय तो व्यतिरेक में अतिव्याप्ति हो जाती है। अतः या तो चतुर्थ प्रतीप की परिभाषा इस प्रकार रखी जाय कि यदि उपमान उपमेयता पाकर उस उपमेय की समानता न कर सके तो चतुर्थ प्रतीप हो; या दोनों में यह भेद माना जाय कि व्यतिरेक में जिस धर्म को लेकर उपमा दी जाती है उससे पृथक् किसी अन्य गुण में विशेषता होती है, उसी में नहीं, जबकि प्रतीप में उसी धर्म में; जैसे "मुख है अम्बुज सो सही, मीठी बात विषेखि" में व्यतिरेक है, पर 'मुख अम्बुज से श्रेष्ठतर है' में प्रतीप होगा, तभी ठीक होगा।[2] उनकी परिभाषा तो पूर्णतः मान्य नहीं हो सकती, पर यह विश्लेषण अवश्य महत्त्वपूर्ण है। दोनों का अन्तर इस प्रकार समझा जा सकता है। प्रतीप में ऐसा कथन होता है जिसमें प्रसिद्ध और सादृश्य रखने वाला उपमान समता नहीं कर सकता। इसमें बिना कारण या विशेषता बताए यही कह दिया जाता है कि वह उपमेय की बराबरी नहीं है; परन्तु व्यतिरेक में उपमेय के भीतर जो बात बढ़कर होती है या जिसके कारण उपमेय में विशेषता या उत्कृष्टता आती है, उसका भी कथन आवश्यकीय है।[3]

२. रूपक के सांग, निरंग और परम्परित भेदों के समान 'साहित्य-पारिजात' में उपमा के भी ये तीन भेद माने गए हैं। उक्त रूपकों में उपमा-

१. 'साहित्य पारिजात', पृ० ४८।

२. " पृ० ६८।

३. 'काव्यानुशासन', अध्याय ६, सू० १८।

उत्कर्षापकर्षहेत्वोः साम्यस्य चोक्तावनुक्तौ चोपमेयस्याधिक्यं व्यतिरेकः।

वाची शब्द जोड़ देने से ये भेद मिल जाते हैं।

३. 'साहित्य पारिजात' में भ्रान्तिमान, सन्देह और भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार की धारणाओं का भी सूक्ष्म विवेचन हुआ है। साधारणतः लेखकों ने यही परिभाषा दी है कि जहाँ पर एक वस्तु को देखकर दूसरी का भ्रम हो वहीं भ्रान्ति अलंकार होता है। ऐसी दशा में ऐसा वर्णन, जहाँ भ्रमवश कोई काम किया जाता है, भ्रान्तिमान अलंकार हो सकता है। परन्तु मिश्रद्वय ने इसे नहीं माना। इन्होंने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—"सादृश्योद्भव कविकल्पित भ्रम के अनाहार्य (बनावटी नहीं असली) वत् वर्णन में भ्रान्ति अलंकार है।"[1]

इस प्रकार रात में ठूँठ देखकर आदमी का भ्रम हो जाने में 'भ्रान्ति' अलंकार नहीं है; वरन् जहाँ उपमेय-गुण का उत्कर्ष दिखाने के लिए उन्हीं गुणों में उपमान का भ्रम करके कोई भ्रमवश कार्य होता है, वहाँ पर यह अलंकार मानना चाहिए। इसी प्रकार सन्देह में भी सादृश्योद्भव संशय होता है।

'साहित्य पारिजात' में भ्रान्त्यापह्नुति का लक्षण भी स्वतन्त्र रूप से दिया गया है। इसका लक्षण आचार्यों ने प्रायः यही किया है कि जहाँ पर असली बात कहकर भ्रम का निवारण किया जाय, वह भ्रान्तापह्नुति अलंकार होता है। पर मिश्रद्वय यह नहीं मानते, क्योंकि इसमें भ्रान्ति अलंकार के अतिरिक्त और चमत्कार नहीं रहता। इनकी परिभाषा इस प्रकार है—"भ्रान्तापह्नुति में किसी वस्तु का अनिश्चित वर्णन करते हुए भ्रान्ति के बहाने से किसी अन्य द्वारा यह कथन दूसरा ठहराये जाने पर सत्य वस्तु कहकर इसका स्पष्टीकरण होता है।"[2] जहाँ पर भ्रम सत्य होता हैं, वहाँ इस अलंकार में अपह्नुति का कोई चमत्कार नहीं रह जाता। इस आधार पर लेखकों ने भिखारीदास के उदाहरण "आनन है अरविन्द न फूलो अलीगन भूले कहाँ मंडरात हैं" को केवल भ्रान्तिमान का उदाहरण मानते हुए इसमें चमत्कार का अभाव बताया है। अपने लक्षण की पुष्टि उन्होंने दूलह कवि के 'कविकुल कण्ठाभरण' के उदाहरण से की है—

"आली, नैन लागे आजु, भली भई नींद आई।
मेरे बनमाली सों, दुराव तोसों का करें॥"

इस रूप में यह छेकापह्नुति का ठीक विलोम है, जिसमें अनिश्चित वर्णन करते हुए किसी के सत्य बात समझने पर झूठ कहकर निषेध किया जाता है।

१. 'साहित्य पारिजात', पृष्ठ ६१।
२. " , पृष्ठ १०१।

४. 'साहित्य पारिजात' में वक्रोक्ति को शब्द और अर्थ दोनों के अन्तर्गत रखा गया है। जहाँ शब्द बदल देने से यह अलंकार न रहे, वहाँ शब्द वक्रोक्ति समझी जानी चाहिए जिसे कवियों ने शब्दालंकार का भेद माना है। परन्तु मिश्रबन्धु का अपना मत यही है कि वक्रोक्ति अर्थालंकार के भीतर है।[1] ये शब्द को बदलकर पर्यायवाची रखने पर चमत्कार नष्ट हो जाना शब्दालंकार के लिए आवश्यक नहीं मानते, यद्यपि यही बात साधारणतः शब्दालंकार के सम्बन्ध में मान्य है। इस धारणा के विरोध का जो कारण दिया गया है, वह समीचीन नहीं। लेखकों का इस सम्बन्ध में अपना सिद्धान्त यह है कि जहाँ सुनने में सुन्दर लगे वहाँ शब्दालंकार और जहाँ अर्थ विचारने में सुन्दर लगे, वहाँ अर्थालंकार होता है।[2] पर सुनने के साथ-साथ अर्थ विचारने की क्रिया भी होती रहती है, अतः दोनों ही कसौटियाँ मान्य हो सकती हैं।

इस प्रकार अन्य अनेक स्थानों पर भी जहाँ आचार्यों से मतभेद देखने को मिलता है, उसका स्पष्ट उल्लेख 'साहित्य पारिजात' में हुआ है। दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास के उदाहरण स्पष्ट नहीं हैं। दृष्टान्त के उदाहरण अर्थान्तरन्यास के भी उदाहरण रूप में ठीक ठहरते हैं।

'साहित्य पारिजात' ग्रन्थ में रसवदादि अलंकारों के पूर्व रस का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है और अन्त में इस बात पर विचार किया गया है कि रसवदादि अलंकार हैं या नहीं। मिश्रद्वय का मत ठीक ही है कि रसादि का उपकार तो सभी अलंकार करते हैं। केवल इसी कारण से रसवदादि अलंकार नहीं हो सकते, उनकी गणना तो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत होनी चाहिए।

अनुप्रास के प्रसंग में छेक, वृत्ति, श्रुत्य और अन्त्य भेदों का वर्णन है। अन्त में मिश्रालंकार के अन्तर्गत संसृष्टि और संकर अलंकारों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार 'साहित्य पारिजात' ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में अलंकारों का सुन्दर विवेचन हुआ है।

'साहित्य पारिजात' की रचना सं० १९९७ वि० अर्थात् सन् १९४० ई० में हुई। यह इस बात का द्योतक है कि रीति-साहित्य की परम्परा अब तक चली आ रही है। हाँ, उसका कुछ रूप चाहे बदल गया हो। आज के अलंकार-ग्रन्थों में स्वरचित उदाहरण देने की परिपाटी धीरे-धीरे कम हो रही है।

---

१. 'साहित्य पारिजात', पृ० ३२५।

२. " , १७८।

रस सम्प्रदाय

पूर्व परम्परा

काव्य के अन्तर्गत रस की स्थिति की चर्चा सबसे पहले नाटक के प्रसंग में हुई और भरत मुनि का नाट्यशास्त्र सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जो रस का विवेचन प्रस्तुत करता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक में आठ रस हैं—श्रृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स और रौद्र। नाटक का मुख्य प्रतिपाद्य रस है, यह नाट्यशास्त्र से स्पष्ट हो जाता है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में, प्रारम्भ में, कविता से अलंकार का ही सम्बन्ध विशेषतः माना गया और बहुत समय तक तो रस नाटक का ही विषय माना जाता रहा। काव्यालंकार-शास्त्र के प्रारम्भिक आचार्य भामह, दंडी, वामन, उद्भट आदि ने अलंकारों के भीतर रस की साधारण स्थिति रसवदादि अलंकारों के रूप में स्वीकार की। काव्य के भीतर रस की अलंकारों से भिन्न स्वतन्त्र स्थिति सबसे पहले आचार्य रुद्रट ने स्वीकार की और यह प्रकट किया कि रस नाटक तक ही सीमित नहीं, वरन् वह काव्य के लिए आवश्यक है। रुद्रट के विचार से रसहीन काव्य शास्त्र की कोटि में आना चाहिये।[1] उन्होंने रसों की संख्या दस मानी। शान्त और प्रेयस ये दो रस छः नाट्यरसों के अतिरिक्त हैं। इतना ही नहीं, रुद्रट की दृष्टि में अन्य संचारी भाव भी रस में परिणत हो सकते हैं। रस को अलंकार के भीतर रखने के वे विरोधी थे।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, परन्तु उन्होंने काव्य के क्षेत्र में रस का महत्त्व स्वीकार किया है। वास्तव में रस तो सर्वोत्तम ध्वनि है। राजशेखर ने भी अपनी 'काव्यमीमांसा' नामक पुस्तक में रस को काव्य-पुरुष की आत्मा के रूप में सम्बोधित किया है।

'शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहु···उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि।[2] दसवीं शताब्दी विक्रमीय के प्रारम्भ तक

१. काव्यालंकार, पृ० १२, २।

२. काव्यमीमांसा, पृ० ६।

'रस प्रबोध' के अन्त में उसका समर्पण सिद्ध करता है कि यह किसीके आश्रय में नहीं लिखी गई—

भले बुरे सब रावरे सुनि लीजै यह नाथ।
रचे आपने हाथ सो लाज तिहारे हाथ॥
पूरण कीन्हों ग्रन्थ मैं लै मुख प्रभु को नाम।
जा प्रसाद ते होत हैं सकल जगत के काम॥११११४॥

इस प्रकार यह सुन्दर ग्रन्थ है।

उदयनाथ कवीन्द्र, जो कालिदास के पुत्र थे, 'रस चन्द्रोदय' के रचयिता थे। रचना-काल सम्बन्धी दोहा यह है—

संवत् सतक अठारह चार। नाइक नाइकाहि निरधार॥
लिखहिं कविन्द ललित रस ग्रन्थ। कियो विनोद चन्द्रोदय ग्रन्थ॥

इससे स्पष्ट है कि इसका रचना-काल सन् १७४७ ई० (सं० १८०४ वि०) है। 'रसिक चन्द्रोदय' का ही दूसरा नाम 'विनोद चन्द्रोदय' है। इसमें प्रचलित परिपाटी पर नायिका-भेद विभिन्न आधारों पर दिया गया है। श्रृङ्गार के संयोग-वियोग दोनों पक्षों का वर्णन है। लक्षण दोहों में, उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं। कोई विशेष शास्त्रीय महत्त्व इस ग्रन्थ का नहीं।

दास के 'रस सारांश' और 'श्रृङ्गार निर्णय' रस और श्रृङ्गार का वर्णन करने वाले ग्रन्थ हैं। 'रस सारांश' की रचना अरवर राज्य के प्रतापगढ़ नगर में सन् १७३४ (१७९१ वि०) में हुई थी। इसमें रसों का रोचक और विस्तार से वर्णन है। इसके भीतर देव की भाँति अनेक प्रकार की स्त्रियों जैसे धाय, सखी, नटिन, सोनारिन, चुरिहारिन, धोबिन, गंधिन, मालिन आदि का वर्णन है। इस ग्रन्थ में दासजी ने सामान्यतया दिये जाने वाले नाम न देकर ये हाव दिये हैं—बोधन, तपन, चकित, हसित, कुतूहल, उद्दीपक, केलि, विक्षिप्त मद और हेला। ये नाम प्रचलित नामों पर कोई विशेष सुधार प्रस्तुत नहीं करते। अन्य वर्णन सामान्य हैं।

श्रृङ्गार निर्णय में श्रृङ्गार-रस और नायिका-भेद का वर्णन है। 'रसराज' के समान इस ग्रन्थ की भी रोचकता उदाहरणों में विशेष है। नखशिख-वर्णन नायिका के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में किया गया है। परकीया नायिका का वर्णन कई आधारों पर किया गया है। ऊढा, अनूढा में अनूढा के दो भेद हैं—उद्बुद्धा और उद्बोधिता। उसकी दो अवस्थाएँ हैं—अनुरागिनी और प्रेमासक्ता। उद्बोधिता के भेद हैं—असाध्या और दुःखसाध्या। इन सभी के लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हैं। यह वर्गीकरण दासजी का मौलिक है। वियोग-वर्णन

द्वारा सम्पादित होता है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के भीतर रस का महत्त्व धीरे-धीरे सर्वमान्य होता गया और रसात्मक काव्य ही सर्वातिकृष्ट काव्य में परिगणित हुआ। हिन्दी के रस-ग्रन्थों पर इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी के रसाचार्य—रस-विवेचन के प्रसंग में भी सबसे पहले हिन्दी-आचार्यों में केशवदास का ही नाम आता है। केशव के पूर्व कृपाराम की 'हित तरंगिणी', नन्ददास की 'रसमंजरी', रहीम का 'बरवै नायिका-भेद' आदि ग्रन्थ विशेष शास्त्रीय महत्त्व के नहीं हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि रस के सम्बन्ध में विचार प्रकट करने वाले ग्रन्थों में केशवदास की 'रसिक-प्रिया' अग्रगण्य है। रस-वर्णन में कृष्ण और राधा के भावों का वर्णन है। केशव ने व्रजराज कृष्ण को नवरसमय माना है, अतः समस्त रसों का वर्णन कृष्ण-राधा के प्रसंग से ही हुआ है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव मिलकर जो स्थायी भाव व्यंजित करते हैं, वही आनन्ददायी रस होता है।[१] केशव का यह विचार अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद के अनुसार है। केशव यह मानते हैं कि रुचि और शुचिता का ध्यान रखकर जो सरस कविता की जाती है वही सज्जनों के चित्त को वश में करती है। शृङ्गार, रसों का नायक है। इसमें प्रेम-सम्बन्धी दक्षता और चतुराई तथा कामशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। संयोग और वियोग शृङ्गार के दो रूप प्रच्छन्न और प्रकाश इन दो भेदों में केशवदास ने प्रकट किये हैं। यह प्रच्छन्न-प्रकाश भेदों में वर्णन केशव की नवीनता है। भोजराज ने 'शृङ्गार प्रकाश' में अनुराग के दो भेद प्रच्छन्न और प्रकाश किये हैं। उसीके आधार पर ही केशव का यह भेद जान पड़ता है। 'रसिक प्रिया' में भाव की परिभाषा बड़ी व्यापक है। मुख नेत्र पचन के मार्ग से मन की बात का प्रकट होना भाव है, जिसके केशव ने पाँच भेद माने हैं—विभाव, अनुभाव, स्थायी, सात्त्विक और व्यभिचारी।[२] केशव के अनुसार विभाव वे हैं जिनसे संसार में अनेक रस अनायास ही प्रकट हों। यहाँ केशव का जगत् का तात्पर्य सहृदय समाज और आश्रय से है। केशव ने रस को अतनु माना है। इस प्रकार उनका विचार है कि अशरीरी रस जिसका आलम्बन लेकर प्रकट होता है, वह आलम्बन और जिससे प्रकर्ष को प्राप्त हो, वह उद्दीपन विभाव है। आलम्बन और उद्दीपन के अनुकरण

१. मिल विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सुअनूप।
व्यंग करैं थिरभाव जो, सोई रस सुखरूप ॥२, 'रसिकप्रिया', प्रकाश १

२. 'रसिक प्रिया', ६, २।

अर्थात् बाद में प्रकट होने वाले भाव अनुभाव हैं और जो सभी रसों में बिना नियम के उत्पन्न होते हैं, वे व्यभिचारी भाव हैं। केशव ने सात्विक को अनुभाव से अलग माना है, पर इसकी व्याख्या नहीं की। 'रसिक प्रिया' के प्रसिद्ध टीकाकार सरदार कवि ने दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है— "अरु सात्विक को अनुभाव को इतनो भेद है सात्विक रस को ज्ञापक नहीं जैसे कंपस्तम्भ स्वेद भयो तो यह नहीं जानी जात कि भय ते या क्रोध ते है या ते न्यारो है अरु अनुभाव ते जान परत याते भयो है या ते रस के सब पांच अंग कहे।[1]" वियोग श्रृङ्गार के चार भेद पूर्वानुराग, करुणा, मान और प्रवास केशव ने बताये हैं। उन्होंने करुण रस और करुण विरह का अन्तर समझाते हुए लिखा है कि जहाँ पर प्रेम के कारण दुःखानुभूति होती है, वहाँ विरह और जहाँ विपत्ति या मरण के कारण दुःखानुभूति हो, वहाँ करुण रस होता है। हास्य रस के केशवदास ने मंदहास, कलहास, अतिहास और परिहास ये चार भेद माने हैं, परन्तु इनके उदाहरण हास्य के नहीं हैं, क्योंकि हास कथित हैं, व्यंग्य नहीं। अन्य रसों का चलताऊ वर्णन है। रस-वर्णन की पद्धतियों के रूप में वृत्तियों का वर्णन 'रसिक प्रिया' में हुआ है। रस-दोषों के वर्णन के साथ यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

सुन्दर कवि ने अपने 'सुन्दर श्रृङ्गार' में श्रृङ्गार रस और नायिका-भेद का वर्णन किया है। भाव की परिभाषा इनकी केशव के समान ही है। 'सुन्दर श्रृङ्गार' ग्रन्थ सन् १६३१ ई० में रचा गया। सुन्दर शाहजहाँ के दरबार में कवि थे। इस ग्रन्थ में लक्षण, दोहा और हरिपद छन्दों में उदाहरण कवित्त-सवैयों में दिये गए हैं। संचारी को छोड़कर श्रृङ्गार रस का पूरा वर्णन मिलता है, पर कोई नवीन विचार उपलब्ध नहीं हैं।

चिन्तामणि—चिन्तामणि त्रिपाठी की गणना हिन्दी-रीति-शास्त्र के उत्कृष्ट और बड़े आचार्यों में है। इनका जन्म हिन्दी के इतिहासकारों ने सं० १६६६ के लगभग और रचनाकाल सं० १७०० वि० (१६४३ ई०) के लगभग से माना है।[2] यह कानपुर जिले के टिकमापुर गाँव के रहने वाले, भूषण, मतिराम के बड़े भाई थे। अब तक उस गाँव में कवियों के घर के रूप में उनका घर बताया जाता है और उनके वंशधर रहते हैं। ये तीनों भाई प्रतिभा-सम्पन्न थे और समकालीन बड़े-बड़े राजाओं के आश्रय में रचनाएँ कीं। भूषण

१. 'रसिक प्रिया', ६, १४, सरदार कवि की टीका।

२. 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग २, पृ० ४०८; 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ २६२।

ने शिवाजी, छत्रसाल तथा मतिराम ने बूँदी-नरेश भाउसिंह, कमायूँ-नरेश उदोतसिंह आदि के आश्रय में ग्रन्थ लिखे। आचार्य चिन्तामणि का प्रमुख क्षेत्र मध्यभारत ही रहा। इन्होंने नागपुर के सूर्यवंशी भोंसला राजा मकरन्द-शाह के आश्रय में अपना ग्रन्थ 'पिंगल' बनाया, जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिये दोहे से स्पष्ट है—

> चिन्तामनि कवि को हुकुम किये साहि मकरन्द।
> करौ लच्छि लच्छन सहित भाषा पिंगल छन्द ॥[1]

छन्द पर इनका दूसरा ग्रन्थ 'छन्द विचार'[2] भी इन्हींके आश्रय में बना, क्योंकि उसका भी प्रथम दोहा है—

> सूरजवंशी भोंसला लसत शाह मकरन्द।
> महाराज दिगपाल जिमि भाल समुद शुभचन्द ॥ १ ॥

इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके ग्रन्थ 'रामायण', 'काव्य-विवेक', 'श्रृङ्गार-मंजरी', 'रस-मंजरी', 'काव्य-प्रकाश' और 'कविकुल कल्पतरु' का भी उल्लेख मिलता है। शिवसिंह के पुस्तकालय में 'काव्य-विवेक', 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्य-प्रकाश', 'छन्द-विचार' और 'रामायण' थे। इनके तीन ही ग्रन्थ मिलते हैं—'पिंगल', 'श्रृङ्गार-मंजरी' और 'कविकुल कल्पतरु'। 'शिवसिंह सरोज' में उद्धृत छन्दों से पता चलता है कि चिन्तामणि ने 'रामायण' और 'कविकुल कल्पतरु' सोलंकी राजा रुद्रशाह के लिए लिखे। छन्द यह है—

> साहेब सुलंकी शिरताज बाबू रुद्रशाह तोसों नर रचत बचत खलकत है।
> काढ़ी करवाल काढ़ी कटत दुवन दल श्रोणित समुद्र छीर पर छलकत है।
> चिन्तामणि भणत भषत भूतगण मांस मेद गूद गीदर औ गीध गलकत है।
> फारे करि कुंभनि मों मोती दमकत मानों कारे लाल बादर मों तारे झलकत है।

यह रुद्रशाह सोलंकी वही थे जिनके सम्बन्ध में भूषण ने लिखा है कि उन्होंने इन्हें 'भूषण' की उपाधि दी थी। यह रुद्रशाह चित्रकूट के राजा थे। सम्भवतः चिन्तामणि वहाँ पहले से होंगे और भूषण उनके यहाँ गये होंगे। परन्तु मुद्रित प्रति से प्रकट है कि इसके पहले 'पिंगल' और 'श्रृङ्गार-मंजरी' की रचना हो चुकी थी।[3]

---

१. दतिया के राजपुस्तकालय में देखी प्रति तथा याज्ञिक संग्रहालय में प्राप्त प्रति से।

२. 'शिवसिंह सरोज', पृ० ६६।

३. मेरे पिंगल ग्रन्थ तें समुझे छन्द विचार।
रीति सुभाषा कवित की बरनत बुध अनुसार ॥ 'कविकुल कल्पतरु', १-६।

श्रृङ्गार-मंजरी—'सुन्दर श्रृङ्गार' के ही समान चिन्तामणि की 'श्रृङ्गार-मंजरी' है जो प्रमुखतया 'आमोद परिमल' और भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर आधारित है। यद्यपि इसकी रचना 'रसमंजरी' के अतिरिक्त 'आमोद परिमल', 'श्रृङ्गार-तिलक', रसिक-प्रिया', 'रसार्णव', 'प्रतापरुद्री', 'सुन्दर श्रृङ्गार', 'सरस काव्य', 'विलास रत्नाकर', 'काव्य-परीक्षा', 'काव्य-प्रकाश' आदि ग्रन्थों के अध्ययन के बाद हुई है, पर प्रमुख ढाँचा 'रसमंजरी' का-सा ही है और उसीके अनुसार इन्होंने सबसे पहले लक्षण दिये हैं। 'श्रृङ्गार-मंजरी' में महत्त्वपूर्ण अंश इसकी चर्चा है जिसमें इन्होंने लक्षणों की सरल व्याख्या की है।

'श्रृङ्गार-मंजरी' नायिका-भेद का अत्यन्त सुन्दर और विशद ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ चिन्तामणि ने शाहिराज के पुत्र बड़े साहिब अकबर साहि के लिए बनाया। यह अकबर साहि नागपुर के सूर्यवंशी भोंसला मकरन्दसाह (बखत-बलन्द) के वंशज सम्भवतः पौत्र थे। मकरन्दसाह को औरंगज़ेब ने इस्लाम धर्म स्वीकृत करने पर बखतबलन्द की पदवी दी थी। किन्हीं कारणों से अकबर साहि को देश-निकाला कर दिया गया था और यह हैदराबाद में जाकर रहे थे।[1] सम्भवतः 'श्रृङ्गार-मंजरी' उनके राजत्वकाल में बनी। इस पुस्तक में बीच-बीच में बराबर बड़े साहिब का ही उल्लेख है। पर ध्यान से देखने पर जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ चिन्तामणि ने ही बड़े साहिब के लिए लिखा है, जैसा कि अन्त में भी स्पष्ट है—

"इति श्रीमन महाराजाधिराज मुकुट तट घटित मनि प्रभा राजिनी राजित चरन राजीव साहिराज गुरुराज तनुज बड़े साहिब अकबर साहि बिरचिता श्रृङ्गार-मंजरी समापता।" निश्चय है कि लेखक अपने लिए स्वयं इस प्रकार के विशेषण नहीं लिख सकता। प्रारम्भिक छन्दों में चिन्तामणि का नाम भी आया है, जैसे—

सोहत हैं सन्तत विबुधनि सों मण्डित कवि 'चिन्तामनि' कहै सब सिद्धि को घरु।
पूरन कै लाख अभिलाष सब लोगनि के जाके पंच साख सदा लखत कनक भरु॥
सुन्दर सरूप सदा सुमन मनोहर है जाको दरसन जग नैनन को ताप हरु।
पीर पातसाहि साहिराज रत्नाकर तें प्रकटित भए हैं बड़े साहिब कलपतरु॥

तथा 'कविकुल कल्पतरु' के छठे प्रकरण के १८५, १८६ व १८७ छन्दों में 'श्रृङ्गार मंजरी' का उल्लेख है, 'श्रृङ्गार मंजरी यथा'—इन शब्दों द्वारा।

१. देखिए, नागपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर; तथा
हिस्ट्री आफ़ सी० पी० एण्ड बरार—ले०, जे० एन० सील।

इन्हीं बड़े साहिब को ही 'शृङ्गार-मंजरी' के रचयिता रूप में नीचे लिखे छन्द में प्रतिष्ठित किया है—

गुरु पद कमल भगति मोद मगन ह्वै सुबरन जुगत जवाहिर खचत है।
निज मति ऐसी भाँति थापित करत जाते औरनि के मत लघु लागत लचत है ॥
सकल प्रवीन ग्रन्थ लिखिन विचारि कहै 'चिन्तामनि' रस के समूहनि सचत है।
साहिराज नन्द बड़े साहिब रसिक राज शृङ्गारमंजरी ग्रन्थ रुचिर रचत हैं ॥

अपने आश्रयदाता के नाम पर ग्रन्थ प्रारम्भ और समाप्त करने की परिपाटी उस समय प्रचलित थी, जैसा कि केशवदास ने भी 'रसिक प्रिया' के अन्त में लिखा है—

"इति श्रीमन्महाराज इन्द्रजीत विरचितायां रसिकप्रियायां रस-अनरस वर्णनोनाम षोड्शः प्रकाशः समाप्तः ॥" अतः यह आश्चर्य की बात नहीं कि चिन्तामणि ने बड़े साहिब के विचारों के अनुसार उनके नाम पर स्वयं ग्रन्थ लिखा हो।

हिन्दी-नायिका-भेद के ग्रन्थों में 'श्रृंगार मंजरी' का महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। इसमें अपूर्ण लक्षण और उदाहरण का बाहुल्य नहीं, वरन् नायिका-भेद का अत्यन्त सूक्ष्म रूप से विस्तार के साथ विवेचन है। इसमें अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया गया है, जैसा कि ग्रन्थ की प्रारम्भिक चर्चा से स्पष्ट है। परन्तु प्रमुखतया विवेचित और आधारभूत मत इस ग्रन्थ में भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'आमोद परिमल' है जिनके बीच-बीच में उद्धरण, व्याख्या और विवेचन मिलते हैं। अनेक स्थानों पर अपने निजी मत की भी स्थापना है। अनुशयाना के तीन भेदों के नाम विद्वानों ने नहीं दिये हैं, पर उनके नाम इस ग्रन्थ में कल्पित किये गए हैं। ग्रन्थ के उदाहरण प्रायः व्याख्या को स्पष्ट करने वाले हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण अंश 'श्रृंगार मंजरी' की गद्य में लिखी गई चर्चा है। इसमें विषय का खुलकर निरूपण, व्याख्या और विवेचन किया गया है। कहीं-कहीं ग्रन्थ की पचास पंक्तियों तक चर्चा चली गई है। यह चर्चा-गद्य उस समय के व्रजभाषा-गद्य का नमूना प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ सामान्या-नायिका के प्रसंग में लिखा गया है—

"अथ सामान्या निरूपणं चर्चा ग्रन्थ। रसमंजरीकार चित्तमात्रोपधिक-सकलपुरुषानुरागा सामान्या यह सामान्या को लच्छन लिख्यो है। या मैं शंका! चित्तोपधिक जो अनुराग सो अनुराग न कहावै ताते सामन्या मैं यह लच्छन को असम्भव रूप दोख होतु है। अनुराग एक ही वोर होतु है। सर्वत्र जो अनुराग सो अनुरागै न होइ। ताते सामान्या नाइकाई न होइ। काहू

ग्रन्थकार इच्छै अनुराग कह्यो है यातें चित्तनिमित्तक पुरुषेच्छा रूप अनुराग याहू में है। यह जो कोऊ कहै तो यह कहियै कै इच्छा अपि भाँति-भाँति की है तथापि सौन्दर्यादि गुण कों देखि जो स्त्री पुरुष के इच्छा होति है सोइ श्रृंगार ग्रन्थनि बिखे अनुराग कहावै और इच्छा अनुराग कहावै। बंधु पुत्रादिकनि मैं जो इच्छा सो ममता कहावति है। ऐसे भांतिन-भांतिन की इच्छा भांतिन-भांतिन के नाम पावति है। इच्छा मात्र जो अनुराग कहिये तौ सब स्वीया परकीया ह्वै जाहि।"[1] उक्त प्रकार की विस्तृत विवेचनपूर्ण चर्चाओं से ग्रन्थ भरपूर है। प्रायः प्रसंगों में रसमंजरीकार और आमोदकार के मतों का खण्डन मण्डन हुआ है। अन्य ग्रन्थों के मतों की भी टीका-टिप्पणी है। नायिका-भेद पर इस प्रकार अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन है।

श्रृंगार रस के वर्णन के प्रसंग में चिन्तामणि का रसानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे नायक-नायिकादि में लौकिक रस और सामाजिकों में अलौकिक रस की अनुभूति मानते हैं। उनका कथन है—[2]

"···श्रृंगार सो द्वै भांति एक लौकिक दूसरो अलौकिक। लौकिक नायिका-नायक में प्रगट होतु है। अलौकिक काव्य-नाट्य को सामाजिकन मैं प्रकाशित है सो कैसे यह जो को होतऊ पूछै तौ यह कहिए लौकिक संभाषणादि वाक्यांतर संभोग करि पारवश्य कर सुखोत्पत्ति नायिका-नायक ही के होति है याते नायिका-नायकनिष्ठ लौकिक रस होत है काव्य-नाट्य विषे आकर्णनादिकन करि वचन रचना अभिनय करि नायिका-नायक के कटाक्ष भुज विक्षेपादि लज्जास्मितादि सामाजिकन करि अनुभव गोचर करियत है। ताते सामाजिकन के आनंदाभिव्यक्ति होति है ताते अलौकिक रस सामाजिकनिष्ठै होत है॥···"

इस प्रकार के अनेक उद्धरणों से विवेचन की गम्भीरता स्पष्ट है।

'श्रृंगार मंजरी' के लक्षण भी शुद्ध ही नहीं, सीधे और रोचक हैं। उदाहरण उन्हीं को स्पष्ट करने के लिए दिये गए हैं।

कविकुल कल्पतरु—चिन्तामणि के इस ग्रन्थ की नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित (१८७५ जनवरी) प्रति ही प्राप्त होती है, जिसमें रचनाकाल नहीं दिया गया। शुक्लजी ने अपने इतिहास में इसका रचनाकाल सं० १७०७ दिया है। यह ग्रन्थ २१५ साधारण आकार से बड़े पृष्ठों में है। इसके

१. 'श्रृंगार मंजरी', हस्तलिखित, पृ० २३, २४।
२. " " पृ० ८६, ८७।

भीतर काव्यगुण, अलंकार, दोष, रस आदि का वर्णन किया गया है। काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है, पर प्रमुखतया ये रसानुयायी जान पड़ते हैं, जैसा कि उनकी काव्य-परिभाषा से प्रकट है—

'बतकहाउ रसमै जु है, कवित्त कहावै सोय'

चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरु' के आधारभूत अनेक संस्कृत के ग्रन्थ हैं, जो उनके व्यापक अध्ययन के प्रमाण हैं और इसकी रचना उन्होंने सम्यक् अध्ययन के उपरान्त की थी—

जो सुरबानी ग्रन्थ हैं तिनको समुक् विचार।
चिन्तामनि कवि कहत है, भाषा कवित विचार॥

चिन्तामणि ने इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में शब्दगुण और अर्थगुण का वर्णन किया है। यह प्रमुख तीन ही गुण मानते हैं और उन्हींके विभिन्न अनुपातों और विशेषताओं में प्रकट होने पर दस गुण प्रकट होते हैं।

शब्द अर्थ में लच्छण तें गुन की तिथि जानि।
अब बरनत प्राचीन मत इते अर्थ गुन मानि॥

दूसरे प्रकरण में शब्दालंकार तथा तीसरे में अर्थालंकार का वर्णन हुआ है। इसमें वृत्ति और रीति का भी उल्लेख है। चिन्तामणि ने उत्प्रेक्षा के विद्यानाथ के आधार पर २७ भेद किये हैं और इनका विचार है कि उपमा के भी ये भेद हो सकते हैं। 'कुवलयानन्द' का भी आधार कहीं-कहीं उल्लिखित है। अनेक स्थलों पर इन्होंने उदाहरण के उपरान्त अपनी गद्य-व्याख्या द्वारा स्पष्ट भी किया है। 'अलंकार व्यंग्य' का उदाहरण[1] इनका है—

"बाजे जब बाजे महा मधुर नगर बीच नागरिनि निखिल ललकि अकुलाई है।
चिन्तामनि कहै अति परम ललित रूप अटा पर दूलह विलोकन को आई है॥
फैली महलनि मनि मेखला झनक महामनि नूपुरन की निनादन की झाई है।
पहिले उज्यारी तन भूषन मयूषन की पाछे ते मयंक मुखी झरोखनि छाई है॥

इहाँ चन्द्रमद प्रदीपादिक जे आल्हादक तेजस पदार्थ तिनके आगमन ते पहिले ही जैसे दीप्ति फैलति है तैसे उनके मुखादि अंगन की अरु रत्नन की दीप्ति फैलति है पहले उज्यारी तन भूषन-मयूषन की पीछे ते मयंक मुखी झरोखनि आई है। यह कवि प्रौढ़ोक्ति शब्द वस्तु करि इनसो चन्द्र प्रदीपादिकन सो उपमान-उपमेय भाव है याते उपमालंकार व्यंग्य है।"

छठे अध्याय में नायिका-भेद हाव-भाव, सातवें में शृंगार का वर्णन किया गया है तथा आठवें अध्याय में शेष आठ रसों का विवरण दिया गया

१. 'कविकुल कल्पतरु', ५-२७, २८।

है। इसमें 'दशरूपक', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि ग्रन्थों का भी आधार लिया गया है। प्रायः आधार का स्पष्ट उल्लेख है। चिन्तामणि ने अपना 'मनि' उपनाम इस ग्रन्थ में साठ बार प्रयुक्त किया है। साथ ही कहीं-कहीं 'श्रीमनि' का भी प्रयोग है।

तोष—तोष कवि का सन् १६३७ का लिखा हुआ ग्रन्थ 'सुधानिधि' है। यह १८३ पृष्ठों का बड़ा ग्रन्थ है और ५६० छन्दों में इसमें रस-निरूपण हुआ है। यह श्रृङ्गवेरपुर (सिंगरोर) के रहने वाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। 'सुधानिधि' ग्रन्थ की सरसता उदाहरणों में है, लक्षणों में कोई विवेचन सम्बन्धी नवीनता नहीं। इसमें नवरसों, भावों, भावोदय, भावशान्ति, भाव शबलता, रसाभाव, रसदोष, वृत्ति और नायिका-भेद का वर्णन है। रस-वर्णन में इन्होंने कोई बात छोड़ी नहीं, पर इनके लक्षणों में कोई शास्त्रीय विशेषता नहीं।

मतिराम—इसी प्रकार का ग्रन्थ मतिराम का 'रसराज' है। इसमें श्रृङ्गार का नायक-नायिका-भेद रूप में वर्णन है। मतिराम के लक्षण महत्त्वपूर्ण नहीं, हाँ उदाहरण अवश्य बड़े ही सरस, कोमल, कल्पनायुक्त और ललित हैं। नायिका की परिभाषा यह दी है, 'उपजत जेहि विलोकि कें चित्त बीच रस-भाव'। यहाँ पर 'जिसे देखके रस और भाव उत्पन्न हों' वह नायिका है। यह लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि शत्रु को देखकर क्रोध का भाव उत्पन्न होता है उसे नायिका कौन कहेगा। रस का तात्पर्य मधुर, सरस, कोमल ही लेना पड़ेगा। अन्य लक्षण भी ऐसे ही हैं। भाव की परिभाषा 'रसराज' में केशव और सुन्दर की परिभाषा से भी व्यापक है—

लोचन बचन प्रसाद मृदु हास वास धृत मोद।
इनते परगट जानिये, बरनत सुकवि विनोद ॥

यह लक्षण भी ठीक नहीं। 'रसराज' को प्रमुखतः काव्य-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है, शास्त्र-ग्रन्थ नहीं। इसका प्रचलन काव्य-ग्रन्थ के रूप में खूब रहा है।

श्रृङ्गार और नायिका-भेद पर लिखे ग्रन्थ अधिकांशतः इसी प्रकार के हैं। सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव' भी विस्तार से नायिका-भेद का ही विवरण प्रस्तुत करता है। श्रृङ्गार रस का वर्णन तो इसमें विस्तार से है, परन्तु श्रृङ्गारेतर रसों का वर्णन अत्यन्त साधारण है। इसमें उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। 'रसार्णव' रसराज की कोटि का ग्रन्थ है। रामजी का 'नायिका-भेद', गोपालराम का 'रस सागर', बलिराम का 'रस विवेक', कल्यानदास का 'रसचन्द' आदि ग्रन्थ भी ऐसे ही हैं। १७वीं शताब्दी ईसवी के अन्त और अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रस के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य देव का है।

देव ने रस पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें अधिकतर शृङ्गार और नायिका-भेद की ही चर्चा है और एक ही प्रकार के भाव अन्य ग्रन्थों में भी आये हैं। रस-सम्बन्धी इनकी धारणा प्रमुखतया 'भाव विलास', 'भवानी विलास' और 'काव्य रसायन' में प्रकट हुई है। देव ने रस के दो भेद माने हैं—लौकिक और अलौकिक। नेत्रादि इन्द्रियों के संयोग से आस्वाद्यमान रस, लौकिक तथा आत्मा और मन द्वारा आस्वाद्यमान रस अलौकिक होता है। अलौकिक रस तीन प्रकार का है—स्वापनिक, मानोरथ और औपनायक, तथा लौकिक रस के शृङ्गारादि नौ भेद हैं। देव ने धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से सुख की उत्पत्ति मानी है और सुख का रस शृङ्गार स्वीकार किया है। देव के विचार से नवरस नहीं, वरन् शृङ्गार ही अकेला रस है। वही सबका मूल है। शृङ्गार के प्रति उत्साह से वीरादि और निर्वेद या विरक्ति से शान्तादि उत्पन्न होते हैं—[1]

भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल शृंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै वीर सांत संचार॥[2]

देव के ये विचार बहुत-कुछ भोजराज की रस-सम्बन्धी धारणा से मेल खाते हैं। देव संसार को नवरसमय तथा शृङ्गार को उसका सार-रूप मानते हैं। 'काव्यरसायन' में नौ रसों का वर्गीकरण 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर है, पर शृङ्गार के वर्णन में इनकी मौलिकता स्पष्ट है। देव कहते हैं कि शृङ्गार आकाश के समान है, जिसमें अन्य रस पक्षियों के समान उड़-उड़कर भी उसका अन्त नहीं पाते।[3] प्रकृति-पुरुष के शृङ्गार में नव-रस का संचार होता है और वे उसीके भीतर प्रकट और विलीन होते रहते हैं। देव ने शृङ्गार की गम्भीर महत्ता प्रकट की है। उन्होंने जीवन, काव्य और रस का सम्बन्ध स्थापित करते हुए लिखा है कि कवित्वपूर्ण शब्दार्थ के वशीभूत सज्जनों का चित्त होता है। काव्य द्वारा समाज को द्रवित किया जा सकता है और उस काव्य का सार रस है। 'काव्य रसायन' में देव ने लिखा है—

भावनि के बस रस बसत, बिलसत सरस कवित्त।
कबिता सब्द अर्थ पद तिहि बस सज्जन चित्त॥
काव्यसार सब्दार्थ को रस तिहि काव्यै सार।
सो रस बरसत भावबस अलंकार अधिकार॥[4]

---

१. 'भाव विलास', पृष्ठ ६५।
२. 'भवानी विलास', १,१०।
३. 'काव्य रसायन', ३, पृ० ५८।
४. 'काव्य रसायन', ३।

इस प्रकार रस-सम्बन्धी देव की धारणा बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

देव के पश्चात् कालिदास, कृष्णभट्ट, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, उदयनाथ, कवीन्द्र दास आदि अनेक आचार्यों ने नायिका-भेद और रस पर लिखा है। परन्तु रस के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण विचार इनमें प्रकट नहीं हुए हैं।

कुमारमणि भट्ट—यह वत्सगोत्री, तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शास्त्री हरिवल्लभ भट्ट था। इनके पूर्वज १४-१५वीं शताब्दी में दक्षिण भारत से मध्य प्रान्त में आकर बस गए थे। कुमारमणि का जन्म सं० १७२० से २५ के बीच मानना चाहिए। इनके गुरु मण्डन कवि के पुत्र पुरुषोत्तम थे।[1] इनके बनाये संस्कृत-ग्रन्थ हैं, 'रसिक रंजन', 'कुमार सप्तशती' तथा हिन्दी-रचना है 'रसिक रसाल'।

रसिक रसाल की रचना सन् १७१६ (सं० १७७६) में हुई थी। इसका प्रमुख आधार 'काव्यप्रकाश' है, जैसा कि इनके अन्तिम और प्रारम्भिक दोहों से स्पष्ट है—

रस सागर रवि-तुरग विधु संवत् मधुर बसन्त।
विकस्यौ 'रसिक रसाल' लखि, हुलसत सुहृदय सन्त ॥[2]
काव्यप्रकाश विचार कछु रचि भाषा में हाल।
पंडित सुकवि कुमारमनि कीन्हौं रसिक रसाल ॥१,४॥

इसमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण तथा उत्तम, मध्यम, अधम काव्य का निरूपण हुआ है। ग्रन्थ के बीच-बीच में कहीं संस्कृत के ग्रन्थों के मत तथा ब्रजभाषा-गद्य की व्याख्या भी दी गई है। छोटी-छोटी व्याख्याएँ इनके लक्षणों और उदाहरणों को स्पष्ट करने वाली हैं। उत्तम काव्य के भीतर विस्तार से रस, नायिका-भेद का ही वर्णन हुआ है। यों अलंकार, चित्र-काव्य गुण, काव्य-दोष आदि का भी वर्णन है।

वियोग शृङ्गार को कुमारमणि ने तीन प्रकारों में विभाजित किया है—वर्तमान, भूत और भविष्यत् और इसके बाद प्रवास, करुनात्मक, मान तथा पूर्वानुराग है। रस-वर्णन के प्रसंग में स्थायीभाव का एक अलग अध्याय है, नव रसों के अतिरिक्त इन्होंने दसवें वात्सल्य रस का भी उल्लेख किया है। नायिका-भेद के प्रसंग में भी कुछ नवीन नाम, जैसे प्रौढ़ा के उन्नतयौवना,

१. सुरगुरु सम मंडन तनय बुध जय गोविन्द ध्याइ।
कवित रीति गुरु-पद परसि अरु पुरुषोतम पाइ ॥ 'रसिक रसाल'।

२. अन्तिम दोहा।

वक्रवचना, लघुसज्जा आदि दिये हैं। 'रसिक रसाल' में काव्यांगों का पूरा विवेचन है और यह उत्तम ग्रन्थों में परिगणित होता है।

रसलीन का वास्तविक नाम सैयद गुलाम नबी था। यह हरदोई के प्रसिद्ध बिलग्राम के रहने वाले थे और अपने आगे बिलग्रामी लगाना गौरव की बात समझते थे। इनके पिता का नाम बाकर था। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ, 'अंग दर्पण' और 'रस प्रबोध' हैं। 'अंग दर्पण' की रचना सन् १७३७ (सं० १७९४ वि०) में हुई थी। यह नख-शिख सौन्दर्य का दोहों में चित्रण करने वाला सुन्दर ग्रन्थ है। रसलीन के दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

रस प्रबोध ग्रन्थ की रचना चैत्र शुक्ल ६ बुद्ध सं० १७९८ में बिलग्राम में हुई थी। इसमें नवरसों का विवेचन है, इसीलिए इसका नाम 'रस प्रबोध' है। इसमें कुल ११५७ दोहे हैं। सारा ग्रन्थ दोहों में ही है। रसलीन का रस-लक्षण बताने वाला दोहा है—

जब विभाव अनुभाव अरु व्यभिचारी मिलि आनि।
परिपूरण व्यापी जहाँ उपजै सो रसजानि ॥ ८ ॥

इनके विचार से बीज-रूप वासना है और उसका अंकुर स्थायीभाव है। विभाव उसके लिए जल-स्वरूप है। अनुभाव तरु है और व्यभिचारी फूल तथा रसिक मधुप के समान हैं।[1] मोटे तौर से इस रूपक द्वारा रस समझने में सहायता मिलती है। पर वास्तव में यह समीचीन नहीं। विभाव के रस-लीन दो भेद मानते हैं—(१) तन व्यभिचारी और (२) मन व्यभिचारी। तन व्यभिचारी आठ सात्विक भाव हैं और मन व्यभिचारी ३३ संचारी भाव।[2] इसमें 'रसिक प्रिया' के अनुसार भी कुछ लक्षण दिये गए हैं जिनका स्पष्ट उल्लेख है। रस-भावों के लक्षण तथा नायिका-भेद के प्रसंग विस्तार से वर्णित हैं। शृङ्गार-रस का वर्णन सबसे अधिक है, अन्य रस अत्यन्त संक्षेप में हैं। इनके उदाहरण बड़े सरस और कवित्वपूर्ण हैं। जैसे—

बाँकी तानन गाइकै टाँकी सी हिय देइ।
ढाँकी छतियां को कछू झाँकी दै जिउ लेइ ॥
दीपक लौ झाँपति हुती ललन होति यह बात।
ताहि चलत अब फूल लौ विगसन लाग्यो गात ॥
सजे श्वेत भूषन बसन जोन्ह माँहि न लखाय।
पट उघरत घन बदन द्युति चमकि द्वैज सी जाय ॥

१. 'रस प्रबोध', ६, १०, ११, १२।
२. ,, २०, २१।

'रस प्रबोध' के अन्त में उसका समर्पण सिद्ध करता है कि यह किसीके आश्रय में नहीं लिखी गई—

भले बुरे सब रावरे सुनि लीजै यह नाथ।
रचे आपने हाथ सो लाज तिहारे हाथ॥
पूरण कीन्हों ग्रन्थ मैं लै मुख प्रभु को नाम।
जा प्रसाद ते होत हैं सकल जगत के काम॥११४॥

इस प्रकार यह सुन्दर ग्रन्थ है।

उदयनाथ कवीन्द्र, जो कालिदास के पुत्र थे, 'रस चन्द्रोदय' के रचयिता थे। रचना-काल सम्बन्धी दोहा यह है—

संवत् सतक अठारह चार। नाइक नाइकाहि निरधार॥
लिखहिं कविन्द ललित रस ग्रन्थ। कियो विनोद चन्द्रोदय ग्रन्थ॥

इससे स्पष्ट है कि इसका रचना-काल सन् १७४७ ई० (सं० १८०४ वि०) है। 'रसिक चन्द्रोदय' का ही दूसरा नाम 'विनोद चन्द्रोदय' है। इसमें प्रचलित परिपाटी पर नायिका-भेद विभिन्न आधारों पर दिया गया है। शृङ्गार के संयोग-वियोग दोनों पक्षों का वर्णन है। लक्षण दोहों में, उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं। कोई विशेष शास्त्रीय महत्व इस ग्रन्थ का नहीं।

दास के 'रस सारांश' और 'शृङ्गार निर्णय' रस और शृङ्गार का वर्णन करने वाले ग्रन्थ हैं। 'रस सारांश' की रचना अरवर राज्य के प्रतापगढ़ नगर में सन् १७३४ (१७९१ वि०) में हुई थी। इसमें रसों का रोचक और विस्तार से वर्णन है। इसके भीतर देव की भाँति अनेक प्रकार की स्त्रियों जैसे धाय, सखी, नटिन, सोनारिन, चुरिहारिन, धोबिन, गंधिन, मालिन आदि का वर्णन है। इस ग्रन्थ में दासजी ने सामान्यतया दिये जाने वाले नाम न देकर ये हाव दिये हैं—बोधन, तपन, चकित, हसित, कुतूहल, उद्दीपक, केलि, विक्षिप्त मद और हेला। ये नाम प्रचलित नामों पर कोई विशेष सुधार प्रस्तुत नहीं करते। अन्य वर्णन सामान्य हैं।

शृङ्गार निर्णय में शृङ्गार-रस और नायिका-भेद का वर्णन है। 'रसराज' के समान इस ग्रन्थ की भी रोचकता उदाहरणों में विशेष है। नखशिख-वर्णन नायिका के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में किया गया है। परकीया नायिका का वर्णन कई आधारों पर किया गया है। ऊढा, अनूढा में अनूढा के दो भेद हैं—उद्बुद्धा और उद्बोधिता। उसकी दो अवस्थाएँ हैं—अनुरागिनी और प्रेमासक्ता। उद्बोधिता के भेद हैं—असाध्या और दुःखसाध्या। इन सभी के लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हैं। यह वर्गीकरण दासजी का मौलिक है। वियोग-वर्णन

के प्रसंग में भी कुछ नवीनता दिखलाई देती है।

रूपसाहि—पन्ना निवासी, कमलनैन कायस्थ के पुत्र रूपसाहि ने पन्ना-नरेश हिन्दूसिंह के आश्रय में 'रूप विलास' की रचना की थी। इस ग्रन्थ में राजवंश, कविवंश-वर्णन के साथ, कविता-लक्षण, प्रयोजन, शब्द-शक्ति, छन्द, नायिका-भेद, नवरस, वृत्ति, अलंकार आदि का वर्णन है। रस-वर्णन विस्तार से है। रस-वर्णन की पद्धति, जो तीन रसों के मेल से बनती है, वृत्ति है। इस दृष्टि से वृत्ति-वर्णन हुआ है। १४वें अध्याय में ऋतु-वर्णन है। इसमें लक्षण संक्षेप में, पर स्पष्ट रूप से दिये गए हैं।

समनेस का 'रसिक विलास' सन् १७७० (१८२७ वि०) का लिखा साधारण रस-ग्रन्थ है। शृङ्गार का विस्तार से और अन्य रसों का संक्षेप में वर्णन हुआ है। लक्षण साधारण और उदाहरण सुन्दर हैं।

उजियारे—वृन्दावन-निवासी उजियारे कवि ने सन् १७८० ई० में 'जुगल रसप्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें रस का विवेचन भरत के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर है। इसकी विशेषता यह है कि रस-सम्बन्धी बातों को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने प्रश्न करके शंकाओं को उठाया है और फिर उनके उत्तर दिये हैं। यह प्रश्नोत्तर-प्रणाली हमारी धारणा को स्पष्ट कर देती है।[1]

यशवन्तसिंह का ग्रन्थ 'शृङ्गार शिरोमणि' सन् १८०० ई० के लगभग लिखा ग्रन्थ है। इसमें शृङ्गार-रस का विस्तारपूर्ण विवेचन है। शृङ्गार को शिरोमणि मानकर उसका विवरण इसमें अच्छा दिया गया है। स्थायीभाव की परिभाषा इनकी यह है—

प्रगटत रस के प्रथम ही उपजत जौन विकार।
सो थाई तासों कहत नवधा नाम प्रकार ॥४॥

उत्पन्न होते हुए रस के प्रथम जो विकार प्रकट हो, वह स्थायीभाव है। वास्तव में स्थायीभाव प्रकट हुआ यह कहना कठिन है, वह तो संचारीभावों, अनुभावों के रूप में ही प्रकट होता है। और प्रकट होना ही रस की स्थिति है, अतः उसके पहले प्रकट हुआ नहीं कहा जा सकता। उसकी आन्तरिक अनुभूति हो सकती है। रति के दो भेद श्रवण और दर्शन इन्होंने माने हैं। इसमें उद्दीपन का वर्णन भी विस्तारपूर्वक हुआ है। नायक के सहायक नर्म, सचिव आदि के अनेक भेद, जैसे व्याकरणी, नैयायिक, पूर्वमीमांसक, उत्तरमीमांसक, वेदान्ती, योगशास्त्री, ज्योतिषी, सामुद्रिकी, वैष्णव, शैव, आरण्य, तीर्थाश्रयी, पौराणिक आदि माने गए हैं, जो अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुकूल प्रेम की

१. विशेष विवरण के लिए देखिए 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० १५५।

बातें बताते हैं।

रामसिंह—हिन्दी-काव्यशास्त्र के भीतर रस-सम्प्रदाय में देव के बाद हमें महत्त्वपूर्ण विचार रामसिंह के 'रस निवास' ग्रन्थ में मिलते हैं। इसका रचना-काल १७८२ ई० है। इसमें रस के अनुकूल मनोविकारों को ही भाव की संज्ञा दी गई है। हास्य रस के निरूपण में रामसिंह ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। हास्य के स्थायी 'हसता' के दो भेद् स्वनिष्ठ और परिनिष्ठ इन्होंने माने हैं और इनमें से प्रत्येक के छः भेद मुसुकानि, हसनि, विहसनि, उपहसनि, अपहसनि और अतिहसनि कहे हैं। इनमें प्रथम दो उत्तम, द्वितीय दो मध्यम तथा अन्तिम दो अधम हैं। रामसिंह ने भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के अनुसार 'मायारस' का भी निरूपण किया है, जिसका स्थायीभाव 'मिथ्याज्ञान' है। वास्तव में शान्त को छोड़कर सभी रस माया रस ही माने जाने चाहिए, क्योंकि इनका सम्बन्ध प्रवृत्ति से है। ऐसी दशा में माया रस की अलग स्थापना करना उचित नहीं ठहरता।

रामसिंह ने रस के आधार पर काव्यकोटि का निर्णय भी किया है। यह निर्णय ध्वनि-सिद्धान्त में निरूपित काव्यकोटि के समान महत्त्वपूर्ण है। इसके आधार पर इन्होंने काव्य की तीन कोटियाँ निर्धारित कीं—अभिमुख, विमुख, और परमुख। जिसमें रस की निष्पत्ति हो, वह काव्य रसाभिमुख है। इसमें प्रमुखतः रस-निरूपण होता है। जिसमें रस का पूर्ण अभाव हो, वह काव्य रस-विमुख; परन्तु जिसमें रस नहीं वरन् भाव, अलंकार, रीति आदि की प्रधानता हो, वह परमुख है। परमुख के दो प्रधान भेद हैं—(१) अलंकार मुख, (२) भावमुख। इस प्रकार यह कोटि-निर्णय, 'काव्य प्रकाश' के ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और अव्यंग्य के समान है।

देव की भाँति रामसिंह ने भी लौकिक और अलौकिक दो भेद रस के किये हैं और शृङ्गारादि को लौकिक रसों में परिगणित किया है। रामसिंह का स्थान रस सम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण है।

पद्माकर तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज गोदावरी के निकट रहा करते थे। बाद को बिट्ठलनाथ के शिष्य होकर मथुरास्थ शाखा के वैष्णव हुए। इनके पिता मोहनलाल भट्ट सागर में रहते थे। वह बाद को बाँदा में आकर बसे। पद्माकर का जन्म सन् १७५३ (१८१० वि०) में सागर में हुआ था। इनके पिता और परिवार के लोग कविता करते थे, इसलिए इनके वंश का नाम ही 'कवीश्वर' पड़ गया। पद्माकर अनेक दरबारों में गये। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। 'जगतविनोद' इन्होंने जयपुर के राजा जगतसिंह के लिए बनाया था। यह उदयपुर और ग्वालिय

भी गये थे। अधिकांश यह भटकते ही रहे। ८० वर्ष की आयु में कानपुर में गंगातट पर सन् १८३३ ई० में इन्होंने शरीर छोड़ा। 'जगद्विनोद' में शृङ्गार और नायिका भेद का निरूपण विस्तार से है। यह नायिका-भेद के वर्णन से प्रारम्भ हुआ है। यह नवरसों में शृङ्गार को श्रेष्ठ मानकर और उसमें नायिका-नायक का प्रधान महत्त्व समझकर उसीके वर्णन को लेकर चलते हैं। 'जगद्विनोद' 'रसराज' के समान अपने काव्यगुणों के कारण विशेष प्रसिद्ध रहा है। अनुभावों के प्रसंग में सात्विक भावों तथा हावों के नाम हैं, उनके विवेचन नहीं। स्वकीया के लक्षण में इन्होंने यह भी लिखा है कि वह पति के पीछे खाती-पीती और सोती है तथा पहले जागती है। यह उसका आदर्श रूप अवश्य है जो पति के प्रति अनन्य प्रेम को प्रकट करता है; पर लक्षण रूप में इसका उल्लेख अधिक आवश्यक नहीं। 'जगद्विनोद' के उदाहरण अत्यन्त सुन्दर हैं और उत्तम काव्य के गुण से सम्पन्न हैं। मतिराम के 'रसराज' के समान 'जगद्विनोद' भी अपने काव्य के लिए प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है।

रसिक गोविन्द—रसिक गोविन्द वृन्दावनवासी महात्मा हरिदास के गद्दी-शिष्य थे। इनका कविता-काल सन् १७९३ से १८३३ ई० (सं० १८५० से १८९० वि०) माना जाता है। इनके बनाये नौ ग्रन्थों का पता चला है, जिनमें अधिकांश कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी हैं। एक ग्रन्थ 'रसिकगोविन्दानन्द-घन' में काव्यशास्त्र-विषयक सामग्री है। रसिक गोविन्दानन्दघन की रचना सन् १८४८ (सं० १८०१) में हुई थी। इसके अन्तर्गत अलंकार, गुण, दोष, रस तथा नायक-नायिकाओं का बड़ा विशद वर्णन है। इसमें लक्षण व्रजभाषा गद्य में तथा उदाहरण सरस व्रजभाषा पद्य में हैं। प्रश्नोत्तरों द्वारा काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अनेक शंकाओं का समाधान किया गया है। लक्षण और उदाहरण दोनों में ही संस्कृत के ग्रन्थों में किये लक्षण उदाहरणों के अनुवाद से हैं और बीच-बीच में 'ग्रन्थकर्ता को मत' देकर निजी विचार रसिक गोविन्द ने दिये हैं। प्रमुखतया इस ग्रन्थ के आधारभूत ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र', 'अभिनव-भारती', 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य दर्पण' आदि हैं। प्रधानतया ये रसवादी लेखक हैं और 'रसिक गोविन्दानन्दघन' १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखे हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में है।

बेनी प्रवीन—बेनी प्रबीन लखनऊ के बाजपेयी थे। इन्होंने अवध के नवाब के अर्थमन्त्री बालकृष्ण के छोटे भाई नवलकृष्ण के लिए रस पर प्रसिद्ध पुस्तक 'नवरस' तरंग' लिखी। यह सपत्नीक विदेश-यात्रा में स्वर्ग-वासी हुए थे। इनके द्वारा तीन ग्रन्थ लिखे गये थे—'शृङ्गारभूषण', 'नवरस-

तरंग', 'नानाराव प्रकाश'। अन्तिम पुस्तक बिठूर के प्रसिद्ध नानाराव के लिए लिखी गई थी। सबसे प्रसिद्ध 'नवरस तरंग' है। इसमें बरवै, दोहा, सोरठा, सवैया, कवित्त छन्दों में सरस कविता की गई है। इसका रचना-काल सन् १८१७ (सं० १८७४ वि०) है। बेनी की मृत्यु ग़दर से कुछ पहले हुई थी। 'नवरस तरंग' में वन्दना और आश्रयदाता के परिचय के बाद रस-लक्षण, जो सामान्य धारणा को ही व्यक्त करता है। शृङ्गार और नायिका-भेद उसके बाद हैं। अनेक आधारों पर नायिका-भेद के पश्चात् नायक-भेद और फिर उद्दीपन, अनुभाव और संचारी भावों का वर्णन है। शृङ्गारेतर रसों का अन्त में संक्षिप्त वर्णन है, फिर भी लक्षण स्पष्ट और पूर्ण तथा उदाहरण अच्छे हैं। लक्षणों में रसों के वर्ण, स्थायी, संचारी, आलम्बन आदि का भी संकेत किया है। कुछ रसों का शृङ्गार-मिश्रित वर्णन भी है, जैसे शृङ्गार-मिश्रित करुण रस, शृङ्गार-मिश्रित वीर रस। युद्धवीर का नाम इन्होंने रनवीर दिया है। बीच-बीच में इन्होंने 'शृङ्गार भूषण' ग्रन्थ से भी उदाहरण दिये हैं। इनका हाव तथा रस-वर्णन 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार है। ग्रन्थ का महत्त्व काव्य-सौन्दर्य के कारण विशेष है।

ग्वाल—ग्वाल कवि मथुरा-निवासी सेवाराम बन्दीजन के पुत्र थे। इनका रचनाकाल सन् १८२२ से १८६१ तक माना जाता है। ग्वाल कवि ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जैसे 'गोपी पचीसी', 'कृष्णचन्द्र जू को नखशिख', 'कवि-दर्पण', 'दूषण-दर्पण', 'अलंकार भ्रमभंजन', 'रसिकानन्द' और 'रसरंग'। अन्तिम चार रीतिशास्त्र से सम्बन्धित हैं। 'कवि दर्पण' तथा 'दूषण दर्पण' में कविशिक्षा और दोषों का तथा 'अलंकार भ्रमभंजन' में अलंकार का विवेचन हुआ है। 'रसिकानन्द' और 'रसरंग' ये दो रस-ग्रन्थ हैं। 'रसिकानन्द' में नायिका-नायक भेद, हाव-भाव और रस-वर्णन है, पर इसमें उदाहरणों का ही विशेष वर्णन आया है। ग्वाल के रस-सम्बन्धी विचार 'रसरंग' में प्रकट हुए हैं। 'रसरंग' १८४७ ई० (१९०४ वि०) की रचना है, इसमें दोहों में रस-रसांगों के लक्षण दिये गए हैं। ये लक्षण संक्षिप्त होते हुए भी स्पष्ट हैं। रसों का विवेचन बहुत से कवियों ने किया है, पर ग्वाल के 'रसरंग' में प्रकट विचार अपनी विशेषता रखते हैं। ग्वाल मन से पैदा हुए विकार को भाव मानते हैं—'जनक जासु को मन कहैं जन्म जो कछु विकार। तासों कहिये भाव है······'[१] ये भाव चार प्रकार के हैं—विभाव, स्थायी, अनुभाव और संचारी। आलम्बन को ग्वाल ने स्थायी भाव का कारण माना है। कारण का अर्थ इनके

१. देखिए, 'त्रैवार्षिक खोज विवरणिका', १९२६, २८ ई०, १६१ ए० बी० सी०।

विचार से किसीकी उपस्थिति को सबके प्रकाश में लाने वाली बात है, जिसरं यह पता लगता है कि अमुक वस्तु कहाँ थी। कुछ इसी प्रकार का लक्षय इनका अनुभाव का भी है—'मन विकार उपजति जु है, जिहि करि जार्न जाय।'[१] अतः विभाव और अनुभाव के लक्षणों में समानता है। हम यही का सकते हैं कि विभाव भाव की उत्पत्ति और विस्तार के कारण है और अनु भाव प्रबुद्ध एवं उद्दीप्त भाव के द्योतक हैं। ग्वाल ने प्रत्येक रस के अनुभावं का वर्णन अलग-अलग किया है।

देव की भाँति ग्वाल ने साहित्यिक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत न मानकर संचारी भावों के अन्तर्गत माना है। संचारी भावों के दो भेद देव ं किये हैं—कायिक और मानसिक। ग्वाल ने उन्हें तनज और मनज कहा है तनज सात्त्विक संचारी हैं और मनज अन्य। ग्वाल ने कहा है कि जो जिर रस का स्थायी भाव है, जब तक उसमें है, तब तक स्थायी है; पर अपने रर को छोड़कर जब दूसरे में जाता है, तब व्यभिचारी हो जाता है। सात्त्विव भावों के प्रसंग में भी ग्वाल ने एक नवीनता रखी है। वह यह मानते हैं वि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से आठ सात्विक भाव प्रकट होते हैं। इस प्रकार प्रकः चालीस भावों में आठ सात्त्विक और शेष संचारी भाव हैं।

ग्वाल ने भी रस के दो भेद माने हैं—अलौकिक और लौकिक। रस को ब्रह्मानन्द के समान माना है। अलौकिक रस के तीन भेदों—स्वापनिक मानोरथिक और औपनयनिक—के ग्वाल ने नौ भेद माने हैं, जो नवरस हैं देव ने इन तीन को अलौकिक माना है और लौकिक रस के नव भेद प्रसिद्ध रस माने हैं। दोनों की धारणाओं में यह अन्तर है। ग्वाल की धारणा 'रस तरंगिणी' के अनुसार है। देव की धारणा अपनी है और अधिक यथार्थवादी है। भानुदत्त ने लौकिक के छः भेद माने हैं। शृङ्गार, नायिका-भेद आदि के वर्णन 'रसरंग' में बड़े ही रोचक हैं और यह काव्य की दृष्टि से भी सुन्दर ग्रन्थ है। आठ उमंगों में यह रस-ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

लछिराम[२]—लछिराम के 'रावणेश्वर कल्पतरु' और 'महेश्वर विलास' में रस का विवेचन है। प्रथम में तो ध्वनि-सिद्धान्त का आधार लेकर रस क निरूपण हुआ है, पर 'महेश्वर विलास' नवरस और नायिका-भेद पर लिख हुआ ग्रन्थ है। यह सीतापुर ज़िले के रामपुर के ताल्लुकेदार महेश्वर बख्श-सिंह के लिए रचा गया था। इसमें नखशिख का भी वर्णन है। इसमें लक्षण

१. देखिए, 'रसतरंगिणी', षष्ठ तरंग, पृ० ३२।
२. परिचय के लिए अलंकार प्रकरण देखिए।

उतने महत्त्वपूर्ण नहीं जितने उदाहरण। 'नवरस तरंग' के समान उदाहरण अत्यन्त सुन्दर हैं। लक्षण दोहों और बरवै में तथा उदाहरण बरवै और सवैया छन्दों में दिये गए हैं। बरवै छन्द का प्रयोग लछिराम ने 'रामचन्द्र भूषण' में भी किया है। इन दोनों ही ग्रन्थों का महत्त्व प्रमुखतया काव्य के ही कारण है।

प्रतापनारायणसिंह—प्रतापनारायणसिंह अयोध्या के महाराजा थे। इन्होंने सन् १८६४ ई० (१९५१ वि०) में 'रसकुसुमाकर' ग्रन्थ लिखा जो इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद में मुद्रित हुआ। इसमें रस के अंगों की सुन्दर विवेचना और उदाहरण मिलते हैं। 'रसकुसुमाकर' में पन्द्रह कुसुम हैं। प्रथम में ग्रन्थ-परिचय, उद्देश्य, और द्वितीय में स्थायी भावों के लक्षण और उदाहरण दिये गए हैं। तृतीय में संचारी भावों, चतुर्थ में अनुभाव और पंचम में हावों का वर्णन किया गया है। छठे कुसुम में सखा-सखी, दूती आदि तथा सातवें-आठवें विभाग के अन्तर्गत ऋतु और उद्दीपन सामग्री का वर्णन है। नवें, दसवें, ग्यारहवें कुसुमों में स्वकीया, परकीया और सामान्या तथा दसविध नायिकाओं का वर्णन है। बारहवें कुसुम में नायक-भेद का विस्तार से निरूपण किया गया है। तेरहवें और चौदहवें कुसुमों में शृङ्गार के भेदों और वियोग दशाओं का चित्रण हुआ है। पन्द्रहवाँ रस कुसुम है, जिसमें शृङ्गार को छोड़कर अन्य रसों का विवरण है। अन्त में काव्य-प्रशंसा के साथ ग्रन्थ की समाप्ति हुई है।

'रसकुसुमाकर' में लक्षण गद्य में दिये गए हैं और विषयों का सुन्दर तथा व्यवस्थित विवेचन उपस्थित किया गया है। इस ग्रन्थ में आये उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। उदाहरण के रूप में देव, पद्माकर, बेनी, द्विजदेव, लीलाधर, कमलापति, संभु आदि कवियों के सुन्दर छन्द दिये गए हैं। उदाहरणों के चुनाव में ददुआ जी (महाराजा साहब) की सहृदयता और रसिकता प्रकट होती है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत अनेक भावों, संचारियों और अनुभावों के चित्र भी दिये गए हैं, जो बड़े सुन्दर और अर्थ के द्योतक हैं। शृङ्गार रस का विवेचन विशेष रोचकता और पूर्णता के साथ हुआ है।

हरिऔध—रस के क्षेत्र में रीति-पद्धति के आधार पर हरिऔध जी की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हरिऔध जी आधुनिक हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और आलोचक थे। यह बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक भी रहे। खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य 'प्रियप्रवास' के रचयिता 'हरिऔध' जी ने रीति-परम्परा को अपनाते हुए 'रसकलस' नामक रस पर प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा, जो सन् १९३१ (सं० १९८८ वि०) की रचना है। 'रस कलस' की भूमिका-

रूप में हरिऔध जी ने जो २२९ पृष्ठों का विस्तृत निबन्ध लिखा है उसमें रस और नायिका-भेद-सम्बन्धी विचारों का सूक्ष्म विवेचन और इस सम्बन्ध में उठाये गए प्रश्नों के उत्तर हैं। इसमें रस-निर्देश, रस-साधन, उत्पत्ति, इतिहास, रसास्वादन के प्रकार, रस की आनन्दानुभूति, रस और ब्रह्मानन्द, विभावादिक और रस, विरोधी रस, रस दोष, रसाभास तथा शृङ्गार और वात्सल्य आदि विषयों पर विचार किया गया है। रस के साधनों में हरिऔध जी ने ध्वनि, अर्थ, वेशभूषा, भावभंगी आदि को लेकर यह निष्कर्ष निकाला है कि दृश्य काव्यों में साधन विशेष रूप में उपस्थित होने के कारण साहित्यिक रस की मीमांसा उन्ही से प्रारम्भ हुई। रस की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इन्हें काव्य प्रकाशकार वाली व्याख्या मान्य है, जिसमें यह प्रतिपादित है कि लोक में रति आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं नाटक और काव्य में वे ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी कहलाते हैं और इन विभावादिकों की सहायता से व्यक्त स्थायीभाव रस है। इस धारणा की पुष्टि हरिऔध जी ने अपने उदाहरणों द्वारा की है। रस के इतिहास में हरिऔध जी ने रसास्वादन के सिद्धान्त का विकास दिखलाया है और यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार आरोप, अनुमान, भोग और अभिव्यक्ति आदि वादों के बीच होता हुआ अभिव्यक्तिवाद सर्वमान्य हुआ।

हरिऔध जी ने विभाव, अनुभाव आदि को अकेले ही रस की व्यञ्जना करने में समर्थ माना है, पर उनका विचार है कि जहाँ देखने में एक जान पड़ता है, वहाँ भी विश्लेषण करने पर विभाव, अनुभाव और संचारी सभी मौजूद रहते हैं।

परस्पर-विरोधी रसों की तालिका देते हुए हरिऔध जी ने उन विशेष परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनमें विरोधी रस एक स्थान में होते हुए भी दोष उपस्थित नहीं होते।[1]

शृङ्गार रस की विस्तृत विवेचना हरिऔध जी ने अपनी भूमिका में की है। शृङ्गार की धारणा उन्होंने भरत मुनि की उक्ति "यत्किंचिल्लोके शुचिर्मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते" के आधार पर स्पष्ट की है, जिसमें शृङ्गार को पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय कहा गया है। शृङ्गार की यह धारणा अधिक व्यापक और उदात्त है। शृङ्गार का स्थायी भाव 'रति', स्त्री-पुरुष के बीच का प्रेम है, जो स्वाभाविक, उज्ज्वल और पवित्र है। अतः

१. 'रसकलस', भूमिका, पृ० ५२, विशेष विवरण के लिए देखिए लेखक का 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास'।

उसका वर्णन करना कभी भी हेय नहीं हो सकता और न कभी अवांच्छनीय ही। संस्कृत, ग्रीग, लेटिन, जर्मन, फ्रेञ्च आदि सभी प्रमुख साहित्यों में स्त्री-पुरुष के प्रेम का विशद और विस्तृत वर्णन है। शृङ्गार का सम्बन्ध सुन्दरता और सुघराई से है, अतः उसकी व्यापकता विश्व-भर में है। अतः शृङ्गार प्रधान रस है।

इसी प्रकार की बात नायिका-भेद के सम्बन्ध में है। साहित्य की सरसता शृङ्गार में है और शृङ्गार के मूल तत्त्व नायक-नायिका हैं। अंग्रेजी, फ़ारसी आदि साहित्यों में जो स्त्री-पुरुषों का वर्णन आता है, वह नायिका-भेद ही है। हरिऔध जी ने इसे उदाहरणों द्वारा सिद्ध भी किया है। उनकी दृष्टि में नायिका-भेद के मूल में जो सत्य है, वह सार्वभौम एवं सार्वकालिक है। अतः स्त्री-पुरुषों के सौन्दर्यमय रूपों का वैज्ञानिक और स्वाभाविक वर्गीकरण हेय नहीं हो सकता। वह आवश्यक और महत्त्वपूर्ण भी उतना ही है, जितना वह मनोरम है।[1] काव्य में जो भी चरित्र-चित्रण है वह सब इसी प्रसङ्ग के अन्तर्गत आता है। अन्तर केवल नाम का है, हम उसे चरित्र-चित्रण के स्थान पर नायक-नायिका भेद-कहते हैं। साथ ही स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन करना कभी भी अवांच्छनीय नहीं समझा गया। यह कला का पोषक और आनन्द को बढ़ाने वाला है। हिन्दी नायिका-भेद संस्कृत का पदानुगामी है, जिसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। हाँ, अश्लीलतापूर्ण, सुरुचिहीन चित्रण किसी भी प्रसंग में क्यों न हो, हेय है, एक इसी प्रसंग में ही क्यों?

भूमिका में हरिऔध जी ने वात्सल्य रस पर भी विचार किया है। यद्यपि कुछ आचार्यों ने वात्सल्य को रस नहीं माना, केवल भाव ही कहा है; पर 'साहित्य दर्पण' के आधार पर हरिऔध जी ने इसे रस की प्रतिष्ठा दी है और उसका निरूपण किया है।

ग्रन्थ के अन्तर्गत रस-निरूपण विस्तार के साथ हुआ है। इसमें रस और नायिका-भेद के सुरुचिपूर्ण सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। शृङ्गार का वर्णन पूर्ण विस्तार के साथ है। हास्य के उदाहरणों में हास्य रस का वास्तविक तथ्य है। इसी प्रकार के उनके बीभत्स, वीर, भयानक, शान्त, करुण, रौद्र और अद्‌भुत रसों के उदाहरण हैं। अद्‌भुत रस के अन्तर्गत 'रहस्यवाद' को भी हरिऔध जी ने लिया है। यह इस ग्रन्थ की नवीनता है।

'रस कलस' में नायिका-भेद में भी नवीनता है। इसमें नवीन वर्गीकरण

१. 'रस कलस', भूमिका, पृ० १२५, विशेष विवरण के लिए देखिए लेखक का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास'।

तथा नवीन नायिकाओं की कल्पना है। इन्होंने प्रकृति-सम्बन्धी, धर्म-सम्बन्धी और स्वभाव-सम्बन्धी भेद किये हैं। अन्य वर्ग यथावत् हैं। पर प्रकृति और स्वभाव में कोई विशेष अन्तर नहीं दीखता। हरिऔध जी ने उत्तमा के पति-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, धर्म-प्रेमिका, जन्म-भूमि-प्रेमिका, निजतानुरागिनी और लोकसेविका नवीन भेद प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार हरिऔध जी का प्रयत्न यह है कि नायिका-भेद को भी आधुनिक भूमियों पर प्रतिष्ठित किया जाय। इन समस्त बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि रीति-परिपाटी पर लिखे गए हरिऔध जी के 'रस कलस' की अपनी निजी विशेषता और महत्त्व है।

बिहारीलाल भट्ट—बिजावर-नरेश महाराज सावन्तसिंह जू देव के राजकवि थे और उन्हीं की प्रेरणा से सन् १९३७ ई० (सं० १९९४ वि०) में इन्होंने 'साहित्यसागर' की रचना की थी। 'साहित्यसागर' ६०० पृष्ठों का दो खण्डों में प्रकाशित विशाल ग्रन्थ है। यह १५ तरंगों में विभाजित है। मंगलाचरण और आश्रयदाता के राजवंश-वर्णन के पश्चात् साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रश्नों को सामने प्रस्तुत किया गया है, जैसे साहित्य क्या है? काव्य क्या है? उसका कारण क्या है? छंद, गणागण, वृत्ति, ध्वनि, भाव, अनुभाव, विभाव, रस आदि क्या हैं? नायिका-भेद कितने हैं? रस कितने हैं? गुण, दोष, अलंकार, चित्रकाव्य आदि क्या हैं? इन प्रकरणों पर 'साहित्य सागर' लिखा गया है। यद्यपि इन अनेक प्रश्नों पर बहुत ही मीमांसा-पूर्ण उत्तर नहीं दिये गए, फिर भी उत्तर स्पष्ट और उपयोगी हैं, इसमें सन्देह नहीं।

'साहित्य' शब्द की व्याख्या करते हुए बिहारीलाल भट्ट ने लिखा है कि साहित्य के अनेक अर्थ निकलते हैं। हितयुक्त शब्द साहित्य है तथा काव्य-साहित्य वह है जिसमें रस, गुण, अलंकार, वृत्ति आदि सामग्री के साथ शब्द और अर्थ दोषों से रहित होकर उपस्थित हों। काव्य के लक्षण अनेक प्राचीन आचार्यों के मतों के आधार पर दिये गए हैं। परन्तु भट्टजी को मान्य परिभाषा यह है कि जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में कुछ चमत्कार हो, वही कथन काव्य है। काव्यकारण, काव्यप्रयोजन 'काव्य प्रकाश' के आधार पर जान पड़ते हैं। प्रतिभा को इन्होंने पूर्व संस्कार कहा है। 'साहित्य सागर' की पंचम तरंग में शब्दार्थ निर्णय है। शब्दशक्ति, तात्पर्य-वृत्ति, ध्वनि-सिद्धान्त का वर्णन है। ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य के पश्चात् रस और भावों का वर्णन किया गया है।

रस-वर्णन के प्रसंग में बिहारीलाल भट्ट ने लिखा है कि भरत ने आठ तथा कवियों ने नौ रस माने हैं, पर नवीन आचार्य भक्ति के और पाँच रस—श्रृंगार, सख्य, दास्य और शान्त मानते हैं। इन पाँच में श्रृंगार और शान्त तो नव रसों में हैं और तीन अधिक माने गए हैं। श्रृंगार रस के विवेचन में नायक और नायिका का आलम्बन रूप में वर्णन है। इसके अतिरिक्त षट्-ऋतु, आभूषण, फूलमाल, सखी, सखा, दूत के वचन, कविता, गीत, उपवन, सर, कमल, समीर, चन्दन, सुगन्ध आदि उद्दीपन विभाव माने गए हैं। कृष्ण इसके देवता हैं।

इसके पश्चात् 'साहित्यसागर' में नायिका के अष्टांग का वर्णन किया गया है, जो यौवन, गुण, कुल, रूप, रति, वैभव, भूषण और शील हैं। 'नाट्य-शास्त्र' की अष्टविध नायिका भट्टजी को मान्य हैं। नायिका-भेद के बाद ऋतु-वर्णन और प्रकृति-चित्रण के उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। इसके बाद संयोग और वियोग श्रृंगार तथा हावों का वर्णन हुआ है। बिहारीलाल ने अपने वर्णन में हेला और बोधक हाव नहीं माने हैं, जो संयोग श्रृंगार के भीतर महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वियोग शृङ्गार के भीतर विरह की दस दशाओं का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। उसके पश्चात् शेष आठ रसों का वर्णन है और अन्त में भाव-ध्वनि, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता पर भी विचार किया गया है। नवीं तरंग में गुणों का वर्णन किया गया है। गुण का सम्बन्ध भट्ट जी ने भाष्य से माना है। इसके बाद रीति, वृत्ति और अलंकारों का वर्णन हुआ है। चित्रालंकार का वर्णन विस्तार से है और उसके भीतर अग्न्यस्त्रबन्ध (बन्दूक), व्याघ्रबन्ध आदि कुछ नवीन चित्र भी उपस्थित किये गए हैं।

त्रयोदश तरंग के भीतर नायिका-भेद की व्याख्या आध्यात्मिक रीति से है। अधिभूत में काम, अधिदैव में भक्ति और अध्यात्म में ज्ञान का सम्बन्ध दिखाया गया है। इस प्रसंग में जितनी भी नायिकाएँ हैं उन्हें यहाँ आन्तरिक वृत्तियों के रूप में ग्रहण किया गया है। स्वीया, परकीया और गणिका इस प्रकार सत, रज और तम की वृत्तियाँ हो जाती हैं। उनका कथन है—

जिनको स्वीया परकीया, गनिका कहत सिंगार।
ते शुचि अन्तःकरण की, वृत्ति तीन निरधार॥

स्वीया सतोगुणी वृत्ति है, उसे आत्मा से ही अकेले प्रेम है; परकीया रजोवृत्ति है जो आत्म-पुरुष को छोड़ लोक के अन्य प्रलोभनों में फँसती है और गणिका तमोवृत्ति है जिसका अपने स्वार्थ से ही सम्बन्ध है, किसीके भी प्रति सच्ची नहीं। वह सत को छोड़ मोहवश भूत-प्रेत को भजती है। इस प्रकार नायिका-

भेद की यह आध्यात्मिक व्याख्या[1] नितान्त नवीन, तत्त्वपूर्ण और मौलिक है। इस प्रकार 'साहित्य सागर' की विशेषताओं को हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं। प्रथम तो इसमें काव्य के सम्पूर्ण अंगों पर विचार किया गया है। लक्षण भी पद्य में ही हैं, जिसका मुख्य उद्देश्य कण्ठस्थ करने की सुविधा ही जान पड़ता है। दूसरे, इसमें नायिका-भेद का क्रम अन्य ग्रन्थों से भिन्न है। सम्पूर्ण नायिकाओं को एक सम्बन्ध-सूत्र में बद्ध करने का प्रयत्न है। उदाहरणार्थ एक नायिका उत्कण्ठिता है, गमन करने पर वही अभिसारिका हुई और संकेत-स्थल पर प्रिय के न मिलने पर विप्रलब्धा हुई। वही अवस्था के विचार से मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा के रूप में सामने आई। तीसरे, चित्रकाव्य के नाम, लक्षण और रूप आदि में नवीनता है। चौथे, नायिका के आध्यात्मिक रूप पर एक अलग तरंग लिखी गई है और अन्त में काव्यशास्त्र के साथ-साथ आध्यात्मिक विषयों तथा वेदान्त की भी चर्चा है। इस प्रकार यह एक विचार और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। सहायक रूप में आये ग्रन्थ हैं—'जगद्विनोद', 'रसराज', 'कविप्रिया', 'छन्दार्णव', 'छन्दप्रभाकर', 'भाषाभूषण', 'भारतीभूषण', 'अलंकार मञ्जूषा', 'साहित्यदर्पण', 'कुवलयानंद', 'मार्कण्डेय पुराण', 'मेघदूत' 'ऋतुसंहार' आदि। यह किसी एक ग्रन्थ पर आधारित रचना नहीं, वरन् आवश्यकतानुसार विभिन्न ग्रन्थों से सहायता ली गई है।

---

१. 'साहित्य सागर', ११ तरंग, पृ० ५२८ से ५३६।

ध्वनि-सम्प्रदाय

पूर्व परम्परा

ध्वनि-सिद्धान्त काव्यशास्त्र-सम्बन्धी समस्याओं की प्रौढ़ चिन्तना का परिणाम है और अनेक दृष्टियों से यह बड़ा व्यापक और पूर्ण सिद्धान्त है जिसने अपने अन्तर्गत लगभग समस्त काव्य-विशेषताओं को समेट लिया। ध्वनि की काव्यात्मा के रूप में चर्चा सबसे पहले किसने की, यह निश्चयतः ज्ञात नहीं है। परन्तु सबसे पहले पुस्तक-रूप में ध्वनि-सम्बन्धी विचारों को व्यक्त करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्द्धन को है। यह पूर्व-प्रतिष्ठित सिद्धान्त था जोकि आनन्दवर्द्धन के समय लुप्त हो गया था और जिसे उन्होंने सहृदयों के लिए फिर प्रतिपादित किया था। 'ध्वन्यालोक' में स्वयं ही इन्होंने लिखा है :—

> काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व,
> स्तस्याभावे जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
> केचिद्वाचां स्थितिमविषये तत्वमूचुस्तदीयं,
> तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥१॥

काव्य में ध्वनि की प्रेरणा, व्याकरण के स्फोटवाद से प्राप्त हुई। स्फोट, पूर्ववर्ती वर्णों के अनुभव से युक्त संस्कार के आधार पर अन्तिम वर्ण के अनुभव द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति है (पूर्वपूर्ववर्णानुभवाहितसंस्कार सचिवेन अन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यंज्यते स्फोटः)। क्रम-क्रम से उच्चारित होते हुए वर्णों में अर्थ का वाचक पहला है या दूसरा या तीसरा, यह कहना कठिन है। अन्तिम, अर्थ की अभिव्यक्ति करता है, पर अकेला नहीं, जब पूर्वगामी वर्णों का क्रम विद्यमान हो, तभी।[1] क्योंकि क्रम से उच्चारित होते हुए वर्ण

१. क्रमेणोच्चार्यमाणेषु वर्णेष्वर्थस्य वाचकः।
आदिमः किं द्वितीयः किं तृतीय कि तथाऽन्तिमः ॥
प्रत्यायकत्वशक्तिस्तु कस्मिन्न तेषु दृश्यते। 'भाव प्रकाशन', अधिकार ६, पृ० १७८।

उच्चारणोपरान्त नष्ट होते रहते हैं। समुच्चय का उच्चारण एक साथ नहीं हो सकता। अतः अन्तिम वर्ण के साथ पूर्वोच्चारित वर्णों के संस्कार से अर्थ का प्रस्फुटन होता है, यही स्फोट है और स्फोट को प्रकट करने वाला वर्णों का उच्चारण ध्वनि है।[1]

जिस प्रकार वर्णों के अलग-अलग उच्चारण से अर्थ प्रकट नहीं होता, उसी प्रकार काव्य में सामान्य वाच्यार्थ से उसका मर्मस्पर्शी अर्थ प्रकट नहीं होता। यह अर्थ व्यञ्जना द्वारा प्राप्त होता है। इस अर्थ को वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ के बाद प्रकट करने वाली शक्ति व्यञ्जना है और व्यंग्यार्थ की विशेषता की स्थिति ध्वनि द्वारा ही प्राप्त होती है। यह ध्वनि अनुरणन है। घण्टे पर चोट करने से जैसे मधुर-से-मधुर झङ्कार टंकार के बाद क्रमशः निकलती हैं, वैसे ही सहृदय के मन में किसी उक्ति के उपरान्त जो अर्थ का भास होता है वह झङ्कार की ध्वनि के समान है (एवं घण्टानादस्थानीयः अनुरणनांत्योपलक्षितः व्यंग्योऽप्यर्थः ध्वनिरिति व्यवहृतः—'ध्वन्यालोक लोचन', पृ० ४७) ध्वनि शब्द प्रमुखतया ऐसे काव्य के लिए व्यवहृत हुआ है जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने लिखा है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थो।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१,१३॥

मम्मट ने भी लिखा है—'वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिः तत्काव्यमुत्तमम्।'[2]

ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा रसानुभव की प्रक्रिया-सम्बन्धी एक समस्या हल हुई। इसमें शोक, हँसी, प्रेम आदि शब्द कहकर किसीको शोकित, हास्ययुक्त या प्रेम से ओत-प्रोत नहीं बना सकते हैं, पर जब वर्णित परिस्थितियों द्वारा ये भाव व्यञ्जित होते हैं, तब उनका प्रभाव पड़ता है। अतः ध्वनि द्वारा रस की स्थिति भी स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण हो जाती है। काव्य की आत्मा ध्वनि है, यह मानने वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी

स वर्ण व्यंजनद्वारा तमर्थं व्यंज्येत्स्फुटम्।
स ध्वनिः स्फोट इत्यत्र शाब्दिकः परिभाष्यते ॥'भाव प्रकाशन' ६, पृ० १७८।

१. Sphota is the real seat of the significative capacity and it is manifested by the last sound of a word together with the impressions of the experiences of the previous sounds. The utterance of these sounds that manifest Sabda or Sphota is called Dhvani.
'The theories of Rasa and Dhvani' by Dr. A. Sankaran, P. 65

२. 'काव्यप्रकाश'।

आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त ने वस्तुतः रस को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।[1]

ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्ण विस्तार में रस-ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वस्तु-अलंकार-ध्वनि रस के सहायक रूप में महत्त्वपूर्ण है। शब्द-शक्तियों—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—में व्यञ्जना का व्यापार पूर्ववर्ती दो शक्तियों पर आश्रित रहता है। अतः ध्वनि के दो भेद हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला। अभिधामूला के दो भेद हैं—संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के भीतर रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति और भावशबलता हैं। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में अलंकार और वस्तु ध्वनियाँ हैं। उपर्युक्त ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य है जिसे उत्तम माना गया है, दूसरा गुणीभूत व्यंग्य है जिसमें व्यंग्यार्थ प्रधान न होकर गौण रहता है और तीसरा चित्र काव्य है जिसे अवर काव्य कहा गया है। इसमें व्यंजना नहीं, वरन् अन्य प्रकार का चमत्कार रहता है। संक्षेप में यही ध्वनि-सिद्धान्त की रूपरेखा है।

ध्वनिकार के सिद्धान्त का खूब खण्डन-मण्डन हुआ। पहले तो प्रतिहारेन्दुराज भट्टनायक, धनञ्जय और धनिक ने इसका खण्डन किया। परन्तु अभिनवगुप्त ने इनके द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त के ऊपर एकत्र किये हुए कुहरे को अपनी प्रतिभा के सूर्य और तर्क के प्रभञ्जन से दूर कर इसकी सुदृढ़ प्रतिष्ठा की। उनका 'ध्वन्यालोक लोचन' काव्यशास्त्र के अन्तर्गत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें 'ध्वन्यालोक' की टीका के साथ-साथ समस्त शंकाओं का समाधान किया गया है। ध्वनि-सिद्धान्त का पुनः खण्डन करके कुन्तक ने वक्रोक्ति और महिमभट्ट ने अनुमिति सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-जीवितम्' में ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना है और महिमभट्ट ने अपने 'व्यक्ति-विवेक' में व्यञ्जना को अनुमान ही माना है और सिद्ध किया है कि ध्वनि नहीं, वरन् काव्यानुमिति ही रसानुभूति में सहायक

१. काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंच द्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ 'ध्वन्यालोक', पृ० २६।
स एवेति, प्रतीयमान मात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रस ध्वनिरिति मन्तव्यम्। इतिहासबलात् प्रक्रान्त वृत्ति ग्रन्थ बलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा: वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।
—अभिनवगुप्त—'ध्वन्यालोक लोचन।'

होती है। इस काव्यानुमिति या अनुमान-सिद्धान्त का ज़ोरदार खण्डन मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में किया और रस एवं ध्वनि की सर्वोत्कृष्ट महत्ता स्थापित कर दी। 'काव्य-प्रकाश' में बड़ी योग्यता और गम्भीरता के साथ ध्वनि-सिद्धान्त का स्वरूप प्रकट हुआ और हम आगे देखेंगे कि हिन्दी के ध्वन्याचार्यों ने प्रमुखतया 'काव्यप्रकाश' का ही आधार ग्रहण किया है। 'साहित्यदर्पण' और 'रस-गंगाधर' दोनों ही ग्रन्थों में रस और ध्वनि की महत्ता स्थापित रही, यद्यपि इनमें समस्त काव्यांगों का विवेचन है। 'रस-गंगाधर' में पण्डितराज ने ध्वनिकार द्वारा प्रस्तुत तीन भेद उत्तम, मध्यम और अवर को, जिनमें गुणीभूत काव्य को मध्यम कोटि मिलती है, न मानकर एक और श्रेणी उत्तमोत्तम मानी है। इनके अनुसार गुणीभूत व्यंग्य की उत्तम काव्य के अन्तर्गत गणना है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना बड़े खण्डन-मण्डन के उपरान्त हुई और हिन्दी के प्रमुख रीतिशास्त्रियों ने भी इसका निरूपण किया।

हिन्दी ध्वनि-सम्प्रदाय

हिन्दी रीतिशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि के सर्वप्रथम आचार्य कुलपति मिश्र हैं। केशव, चिन्तामणि, भूषण, मतिराम, तोष आदि ने रस और अलंकारों की चर्चा करते हुए भी ध्वनि का वर्णन नहीं किया।

कुलपति मिश्र-कृत रस-रहस्य—कुलपति आगरा के रहने वाले माथुर चौबे भूषण के समकालीन थे। इनके पिता का नाम परशुराम था और कूर्मवंशी जयसिंह के पुत्र रामसिंह के लिए इन्होंने 'रस रहस्य' की रचना की। 'रस-रहस्य' का रचनाकाल सन् १६७० ई० (१७२७ वि०) है। अपने आश्रयदाता से यह आदेश पाकर कि देववाणी में कविता-सम्बन्धी जो विचार हैं वे भाषा में लिखो, जिससे उसका मर्म समझा जा सके, कुलपति ने मम्मट के मत का सार अपने ग्रन्थ 'रस-रहस्य' में प्रकट किया।[1] 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' के आधार पर काव्य की परिभाषाएँ देकर उनकी विवेचना करने के साथ कुलपित ने अपना निजी लक्षण काव्य का यह दिया है—

जग ते अद्भुत सुख सदन सब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त ॥[2]

उसके बाद प्रथम वृत्तान्त में ध्वनि के आधार पर काव्य-पुरुष का रूप स्पष्ट करते हुए कुलपति ने लिखा है कि शब्दार्थ उसका शरीर और व्यंग्य उसका

१. 'रस रहस्य', १,११,१२।
२. 'रस रहस्य', १,१६।

प्राण है। गुण, गुण और अलंकार आभूषण हैं तथा दोष, दूषणों के समान हैं। इस प्रकार व्यंग्य-प्रधान, उत्तम काव्य; व्यंग्यवाच्य-समान, मध्यम काव्य तथा व्यंग्यहीन शब्द-अर्थ की विचित्रता से युक्त अवर काव्य होता है।

'रस-रहस्य' के दूसरे वृत्तान्त में शब्दार्थ-निर्णय है। जो सुना जाय वह शब्द और जो समझ में आए वह अर्थ है। वाचक, लक्षक, व्यञ्जक शब्दों का वर्णन तथा तात्पर्य वृत्ति का भी संकेत इसमें है। ध्वनि के विभिन्न भेदों के अन्तर्गत भावों का वर्णन है। स्थायी भाव जिनके द्वारा प्रकट हों वे विभाव हैं और जो दूसरों पर स्थायी भाव प्रकट करें वे अनुभाव हैं तथा सब रसों में संचरण करने वाले संचारी भाव हैं। कुलपति की परिभाषाएँ प्रामाणिक हैं और इन्होंने एक-एक करके समस्त रसों का वर्णन किया। इनका रौद्र रस का वर्णन युद्धवीर का-सा है। कुलपति ने रौद्र और युद्धवीर का भेद बताते हुए कहा है, 'समता की सुधि है जहाँ सु है जुद्ध उत्साह। जहँ भूलै सुधि सम असम सु है क्रोध निर्वाह।'[1] यहाँ पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह है कि समान के साथ उत्साह का भाव होता है जो वीरता से सम्बन्धित है और असमानता में क्रोध का। रसध्वनि के बाद भावध्वनि तथा अन्य रूपों का विस्तार से वर्णन हुआ है। तीसरे वृत्तान्त में उत्तम और चतुर्थ वृत्तान्त में मध्यम काव्य का वर्णन है। पाँचवें में काव्यदोष, छठे में गुण तथा सातवें और आठवें में अलंकारों का वर्णन किया गया है। लक्षण अधिकांशतः दोहों और उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं। कुलपति के विचार प्रौढ़ और प्रामाणिक हैं, पर कोई नवीन विचार देखने को नहीं मिलते।

देवकृत काव्य रसायन—कुलपति के बाद देव ने ध्वनि पर लिखा है। इनका ग्रन्थ 'काव्य रसायन' ध्वनि-सिद्धान्त का ही निरूपण करने वाला ग्रन्थ है, यद्यपि उसमें प्रधानतया रस का महत्त्व ही स्पष्ट है। 'काव्य रसायन' में ध्वनि के साथ रस, गुण, अलंकार और छन्द का विवेचन है। देव के 'काव्य-रसायन' का आधार 'काव्यप्रकाश' नहीं है, वरन् 'ध्वन्यालोक' जान पड़ता है। इन्होंने तात्पर्य वृत्ति का भी अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के साथ वर्णन किया है। शब्दार्थमय काव्य कामधेनु है, जिसका दूध रस है और आनन्द माखन है।[2] देव के विवेचन और उदाहरणों से अभिधा शक्ति का भी सौन्दर्य निखर आया है। लक्षणा-विवेचन के प्रसंग में देव ने प्रयोजनवती के दो भेद शुद्ध और मीलित किये हैं। गौणी को इन्होंने मीलित नाम दिया है। शुद्धा

१. 'रस रहस्य', २-१४५।

२. 'काव्य रसायन', १,३।

के साथ मीलित शब्द अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, शेष यथावत् है। देव ने वृत्तियों के शुद्ध भेदों के अतिरिक्त संकीर्ण या सूक्ष्म भेद भी किये हैं, जिनमें अभिधा में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना; लक्षणा में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और व्यञ्जना में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना तथा तात्पर्य में तीनों की स्थिति का विवेचन करके बारह भेदों का वर्णन किया है। इसके साथ-ही-साथ इन वृत्तियों के मूल भेदान्तर भी बताये हैं। अभिधा के जाति, क्रिया, गुण, यदृच्छा, लक्षणा के कार्य-कारण, सदृश्यता, वैपरीत्य, आक्षेप, तथा व्यञ्जना के वचन, क्रिया, स्वरचेष्टा, मूल भेदान्तर हैं। तृतीय प्रकाश में रस-निरूपण है जो महत्त्वपूर्ण है।

देव के विचार से रसयुक्त शब्द घने काले बादलों के समान हैं जो अमोघ अर्थरूपी जल की वर्षा करते हैं। रस का आनन्द बिना यत्न के नहीं रहता है। जैसे बहुमूल्य रत्न को यत्न से रखा जाता है और गुन से पिरोकर निपुणों के हृदय को अलंकृत करता है, वैसे ही रस भी है। रस भावों के वश हैं और कविता शब्दार्थ के। शब्दार्थ का सार काव्य है और काव्य का सार रस है।[1] देव के विचार से प्राचीन विद्वान् रस को नव भेदों में और नवीन उसे तीन भेदों में वर्णन करते हैं। देव कहते हैं कि संसार नवरसों से युक्त है, उनमें मुख्य शृंगार है जिसमें नायक-नायिका प्रधान हैं—

नवरस सब संसार में नवरस में संसार।
नवरस सार सिंगार रस, युगल सार सिंगार॥
है विभाव अनुभाव बढ़ि, सात्विक संचारीजु।
सों सिंगार सुरतरु जमैं, प्रेमांकुर रति बीजु॥[2]

शृङ्गार को देव ने निर्मल, शुद्ध और अनन्त आकाश के समान माना है, जिसके अन्तर्गत और रस पक्षियों के सदृश उड़-उड़कर भी उसका अन्त नहीं पाते।[3] यह विचार भोज की धारणा से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। रस के अलग-अलग वर्णन के बाद देव ने रस-दोषों का भी वर्णन किया है तथा नव रस की विविध वृत्तियों का विवेचन भी। शृङ्गार का अलग से विस्तृत वर्णन देव ने किया है और उसीके साथ नायिका-भेद का भी।

देव ने अभिधा और व्यञ्जना दोनों का ही महत्त्व प्रदर्शित किया है और प्राचीन एवं नवीन आचार्यों के मतों को देते हुए लिखा है—

१. 'काव्य रसायन', ३,२८।
२. 'काव्य रसायन', ३,३०।
३. 'काव्य रसायन', पृ० ३,३२।

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यञ्जना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन ॥[1]

अपनी भावना उनकी अभिधा के पक्ष में ही प्रकट होती है, जिसमें रस का स्वाभाविक, सहज, स्वच्छन्द निर्बाध वर्णन हो। व्यञ्जना से रस कुछ कुटिल रूप में आता है। पर देव का यह मत ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्ण विकास को ध्यान में रखते हुए कुछ समीचीन नहीं कहा जा सकता।

सातवें, आठवें और नवें प्रकाशों में देव ने गुण और अलंकारों का तथा दशम् और एकादश प्रकाशों में छन्दों का वर्णन किया है। गुण का वर्णन देव ने रीति कहकर किया है। इस प्रकार 'काव्य रसायन' में देव के रस और ध्वनि पर प्रौढ़ एवं महत्त्वपूर्ण विचार देखने को मिलते हैं।

सूरति मिश्र—आगरा के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। काव्य-शास्त्र पर इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे; जैसे 'अलंकार माला', 'रस रत्नमाला', 'रस ग्राहक चन्द्रिका', 'काव्य सिद्धान्त', 'रस रत्नाकर', 'सरस रस', 'ज़ोरावर प्रकाश', 'अमरचन्द्रिका' आदि। 'रस ग्राहक चन्द्रिका' 'रसिकप्रिया' की टीका है, जिसे इन्होंने जहानाबाद के नवाब नसीरुल्ला के कहने पर सं० १७६१ वि० में लिखा। 'जोरावर प्रकाश' 'रसिकप्रिया' की दूसरी टीका है जो १८०० वि० में जोधपुर-नरेश जोरावरसिंह के लिए लिखी गई। 'अमर चन्द्रिका' सूरतिमिश्र द्वारा लिखी गई सतसई की टीका है। इनकी 'बैताल पचीसी' १८वीं शती के हिन्दी-गद्य का नमूना है जिसे पहला उपन्यास माना जा सकता है। 'रस रत्नाकर' सं० १७६८ का लिखा श्रृंगार व नायिका-भेद का ग्रन्थ है। ध्वनि का वर्णन करने वाला इनका ग्रन्थ 'काव्य-सिद्धान्त' है, जिसमें 'काव्य प्रकाश' के आधार पर काव्य का विवेचन और ध्वनि-निरूपण है। काव्य की परिभाषा इन्होंने अपनी निजी प्रस्तुत की है—

बरनन मनरंजन जहां रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ ॥

कवि का वह निपुण कर्म, जिसमें अलौकिक रीति से मनोरंजक वर्णन हो, काव्य है। यह बड़ी व्यापक परिभाषा है जो किसी भी सिद्धान्त-विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती। ग्रन्थ में काव्य-कारण, प्रयोजन, शब्दार्थ तथा शब्द-शक्तियाँ, दोष, गुण, अलंकार आदि का वर्णन प्रमुखतया 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। अन्त में छन्दों का भी वर्णन है। 'काव्य शास्त्र' के सभी अंगों पर प्रकाश डालने वाला यह एक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

१. 'काव्य रसायन', पृ० ६,७२।

कुमारमणि भट्ट—वत्सगोत्री तैलंग ब्राह्मण हरिवल्लभ जी के पुत्र थे, जो सुप्रसिद्ध सप्तशतीकार गोवर्द्धनाचार्य के छोटे भाई बलभद्र जी की छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। कुमारमणि संस्कृत के अच्छे विद्वान् और कवि थे। इनका लिखा ग्रन्थ 'रसिकरसाल' कांकरौली से छपा है। यह काव्यशास्त्र का अच्छा ग्रन्थ है और 'काव्य प्रकाश' के आधार पर छपा है। रचनाकाल सन् १७१९ ई० (सं० १७७६ वि०) है। 'काव्य प्रकाश' के अनुसार ही इसमें काव्य-प्रयोजन, कारण, भेद, शब्दशक्ति, रस, नायिका-भेद आदि का वर्णन है। बीच-बीच में कहीं-कहीं गद्य-व्याख्या भी लिखी है जो इनके लक्षण और उदाहरण को स्पष्ट करती है।

श्रीपति—श्रीपति-रचित 'काव्य सरोज' काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों में है। इसके अतिरिक्त श्रीपति ने 'कविकुलकल्पद्रुम', 'रस सागर', 'अनुप्रास-विनोद', 'विक्रम विलास', 'सरोज लतिका', 'अलंकार गंगा' आदि ग्रन्थ लिखे हैं। 'काव्य सरोज' की रचना सन् १७२० ई० (१७७७ वि०) में हुई थी। श्रीपति मिश्र कालपी नगर के रहने वाले ब्राह्मण थे और इनका 'काव्य-सरोज', 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर है। काव्य की परिभाषा श्रीपति ने यह दी है—

शब्द अर्थ बिनु दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान ॥

काव्य का प्रस्फुटन प्रतिभा, निपुणता, लोकशास्त्र-ज्ञान और अभ्यास से होता है। निपुणता श्रीपति के विचार से वह कुशलता है जिसके द्वारा उसे शब्द और शब्दार्थ का तुरन्त भान हो जाय। तर्क की नई सूझ प्रतिभा है। शक्ति, निपुणता और प्रतिभा, ये तीन रूप श्रीपति ने सामान्यतया कही जाने वाली प्रतिभा के कर दिए हैं और इस प्रकार ६ कारण काव्य के हो जाते हैं। श्रीपति ने उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन काव्य-भेदों में ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अवर या चित्र-काव्य का विवेचन किया है जो कोई नवीनता नहीं रखता है।

'काव्य सरोज' के चतुर्थ और पञ्चम दल दोष-वर्णन में लगे हैं। इसकी विशेषता इस बात में है कि इसमें श्रीपति ने हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों, जैसे केशव, ब्रह्म, सेनापति आदि, की रचनाओं में दोष दिखाये हैं। आठवें और नवें दलों में काव्य-गुणों तथा दसवें, ग्यारहवें और बारहवें दलों में अलंकारों के वर्णन हैं। तेरहवें दल में रसों का वर्णन है, जिसमें 'नाट्यशास्त्र' का भी आधार लिया गया है।

सोमनाथ—जयपुर-नरेश महाराज रामसिंह के मन्त्र-गुरु क्रिरोरा वंश

के माथुर ब्राह्मण तथा नरोत्तम मिश्र के वंशधरों में से सोमनाथ थे। यह नीलकण्ठ मिश्र के पुत्र गङ्गाधर के छोटे भाई थे। इन्होंने भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के लिए 'रसपीयूषनिधि' नामक ग्रन्थ बनाया, जिसकी रचना सन् १७३७ ई० (१७९४ वि०) में हुई, जैसा कि इन दोहों से प्रकट है—

कही कुंवर परताप ने सभामध्य सुख पाय।
सोमनाथ हमको सरस पोथी देउ बनाय॥
सत्रह सै चौरानवां संवत् जेठ सुमास।
कृष्ण पक्ष दसमी मृगों भयो ग्रन्थ परकास॥

इस विस्तृत ग्रन्थ में काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष तथा छन्द का वर्णन है। 'रसपीयूषनिधि' काव्यशास्त्र पर एक पूर्ण ग्रन्थ है। प्रथम पाँच तरंगों में छन्दों का वर्णन है। छठी तरंग में सोमनाथ ने कविता की परिभाषा यह दी है—

सगुन पदारथ दोष बिन पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषण जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि बुद्ध॥

काव्य की यह धारणा मम्मट के आधार पर है। काव्य-प्रयोजन भी ऐसे ही हैं। ये ध्वनिवादी हैं और काव्य का प्राण व्यंग्य ही मानते हैं। सोमनाथ ने लिखा है—

व्यंग्य प्राण अरु अंग सब शब्द अरथ पहचानि।
दोष और गुण अलंकृत दूषणादि उर आनि॥

इस प्रकार शब्दशक्ति और ध्वनि के भेदों का वर्णन इसमें विस्तार के साथ किया गया है। रस और भाव-ध्वनि के भीतर रसों एवं भावों का विशद वर्णन है। उन्नीसवीं तरंग में गुणीभूत व्यंग्य के आठ रूपों तथा बीसवीं तरंग में दोषों का वर्णन है। लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हैं। इक्कीसवीं तरंग में गुणों और बाईसवीं में अलंकारों का वर्णन करते हुए यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। काव्यशास्त्र पर यह एक बृहद् ग्रन्थ है। इसमें बीच-बीच में गद्य-व्याख्या भी है।

भिखारीदास—दासजी प्रतापगढ़ के ट्योंगा गाँव के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। दासजी ने 'रससारांश', 'छन्दोर्णवपिंगल', 'काव्यनिर्णय' और 'शृंगार निर्णय' ग्रन्थ काव्यशास्त्र पर लिखे। काव्यशास्त्र की दृष्टि से सबसे प्रौढ़ और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' है, जिसमें ध्वनि का विवेचन और रस, अलंकार, गुण, दोष आदि का वर्णन है। यद्यपि इन्होंने समस्त विषयोंपर लिखा है, पर यह मम्मट द्वारा 'काव्य प्रकाश' में प्रतिपादित ध्वनि-

सिद्धान्त के अनुयायी थे। 'काव्य निर्णय' में दास ने सबसे पहले काव्य-प्रयोजन पर विचार किया है। काव्य-कारण में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को दास जी स्वीकार करते हुए कहते हैं कि व्युत्पत्ति और अभ्यास रथ के दोनों पहियों के समान हैं, जिनके बिना रथ नहीं चल सकता, प्रतिभा का सारथी चाहे कितना ही बली क्यों न हो। दासजी के विचार से रस कविता का अंग, अलंकार आभूषण, गुण, रूप-रंग तथा दोष कुरूपता है।[1] यद्यपि दासजी ने स्पष्ट नहीं कहा, पर वह काव्य की आत्मा ध्वनि मानते हैं ऐसा जान पड़ता है। दूसरे उल्लास में पदार्थ-निर्णय है। अभिधा शक्ति और वाच्यार्थ का भी दास ने विस्तार से वर्णन किया है और लक्षणा एवं व्यञ्जना का भी विस्तृत विवेचन है। इनके लक्षण संकेतपूर्ण हैं, पर हैं स्पष्ट। उदाहरण सुन्दर हैं।

दास ने लिखा है कि व्यञ्जना या तो अभिधा पर आश्रित रहती है या लक्षणा पर। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पात्र के समान हैं, जिन पर व्यंग्यार्थ-रूपी जल टिकता है। इस प्रकार अभिधामूला और लक्षणामूला ये दो व्यञ्जना के भेद हैं। इसके बाद अलंकार मूल और रसांगों का वर्णन दासजी ने किया है। इसके भीतर रस, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता, भावोदय आदि के साथ-साथ अपरांग रसवदादि का वर्णन भी दास ने किया है, जिन्हें बहुत से आलंकारिकों ने अलंकार में रखा है। ध्वनिभेदों का दासजी ने विस्तार से वर्णन छठे उल्लास में किया है। कुल मिलाकर ४३ प्रकार की ध्वनि का निरूपण है। सातवें उल्लास में गुणीभूतव्यंग्य का वर्णन है, जो 'काव्य प्रकाश' के समान है। अष्टम् उल्लास में अलंकारों का वर्णन दास ने किया है। इनका वर्गीकरण इन्होंने प्रथम अलंकार के नाम पर किया है, जैसे उपमादि, उत्प्रेक्षादि। अनेक उल्लास अलंकार-वर्णन में लगे हैं। उन्नीसवें उल्लास में गुणों का वर्णन है। दासजी ने गुणों को रस का सहायक और उपकारी माना है। उनका विचार है कि गुणों द्वारा ही रस प्रकट होता है। बीसवें उल्लास में चित्र को छोड़कर कुछ शब्दालंकारों का वर्णन है। इक्कीसवें में चित्रालंकार एवं बाईसवें में तुक का निरूपण है। तुक दासजी की निजी विवेचना है और इनके पहले किसीने भी इसका विवेचन नहीं किया। तेईसवें उल्लास में दोष-वर्णन, चौबीसवें में दोषोद्धार के उपाय तथा पचीसवें में रस-दोष-वर्णन है। दासजी के विचारों में मौलिकता चाहे न हो, पर हैं वे बड़े स्पष्ट। साथ ही इनके उदाहरण बड़े चुटीले हैं और इनको कवित्व-प्रतिभा को स्पष्ट करते हैं।

१. 'काव्यनिर्णय', प्रथम उल्लास, १६वाँ छन्द।

दास के बाद जगतसिंह का 'साहित्य सुधानिधि' और रणधीरसिंह का 'काव्य रत्नाकर' ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें ध्वनि का विवेचन हुआ है। 'साहित्य सुधा-निधि' में भरत, भोज, मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ, गोविन्द भट्ट, भानुदत्त, अप्पय दीक्षित आदि का आधार लिया गया है। इसका उल्लेख स्वयं लेखक ने कर दिया है। ग्रन्थ की रचना सन् १८०१ (सं० १८५८) में हुई थी। इसमें ध्वनि का वर्णन 'काव्य प्रकाश' के आधार पर ही है। लक्षणा का नाम इन्होंने कुटिला वृत्ति और अभिधा का सरलावृत्ति रखा है। इस ग्रन्थ में विवेचन साधारण है। अधिकांश लक्षण अस्पष्ट हैं और अनुवाद-से लगते हैं। रणधीरसिंह का 'काव्य रत्नाकर', 'काव्य प्रकाश' और 'चन्द्रालोक' के आधार पर है। इस ग्रन्थ को लिखने में कुलपति के 'रस रहस्य' ग्रन्थ का आदर्श सामने रखा गया है। लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने वार्ता लिखी है और यह विवेचनपूर्ण ग्रन्थ है।

प्रतापसाहि—ध्वनि-सिद्धान्त के परिणामस्वरूप कुछ व्यंग्यार्थ-प्रकाशक ग्रन्थ लिखे गए, जैसे 'व्यंग्यार्थ कौमुदी', 'व्यंग्यार्थ 'चन्द्रिका' आदि। इस सम्बन्ध में प्रतापसाहि की 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' प्रसिद्ध है। प्रतापसाहि के एक ग्रन्थ 'काव्य विकास' में मम्मट के आधार पर काव्य का विवेचन किया गया है, परन्तु 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में एक साथ नायिका-भेद, व्यंग्यार्थ और अलंकार चलते हैं। इसमें ध्वनि-काव्य की महत्ता स्पष्ट होती है। उत्तम काव्य इसमें ध्वनि ही मानी गई है जैसा कि उनका विचार है—

विंग जीव है कवित्त में सब्द अर्थ गति अंग।
सोइ उत्तम काव्य है बरनै बिंग प्रसंग॥

प्रतापसाहि ने इस ग्रन्थ में अलंकार की विचित्र धारणा प्रकट की है। उनका कथन है कि व्यंग्यार्थ और इससे पृथक् जो कोई चमत्कार दिखलाई दे, वह अलंकार है।

रस अरु विंग दुहुन ते जुदौ परै पहिचानि।
अर्थ चमत्कृत सब्द में अलंकार सो जानि॥

इस प्रकार यह एक काव्य का चमत्कार प्रकट करने वाला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना १९वीं शताब्दी के मध्य में हुई। इनके ग्रन्थ 'काव्य-विलास' का रचनाकाल सन् १८२९ (सं० १८८६ वि०) है।

रामदास का यथार्थ नाम राजकुमार था। यह काशी और प्रयाग के बीच स्थित हरिपुर के निवासी और नन्दकुमार के शिष्य थे। इन्होंने 'कवि-कल्पद्रुम' या 'साहित्य सार' ग्रन्थ की रचना सन् १८४४ (सं० ११०१) में

समय रीतिकाल का प्रारम्भ ही है। रीति-काव्य की इस प्रथम महत्त्वपूर्ण रचना ने हिन्दी रीति-काव्य को अतिशय प्रेरणा प्रदान की, इसमें सन्देह नहीं।

बिहारी—बिहारीलाल रीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और उनकी यह ख्याति उनके अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई' पर आधारित है। सतसई-साहित्य में 'बिहारी सतसई' सर्वश्रेष्ठ है। यह जयपुर के महाराज जयशाह के आदेश पर लिखी गई, जैसा बिहारी ने अन्त में लिखा है—

हुकुम पाय जयसाह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक संवाद॥

बिहारी की सतसई वास्तव में अनेक संवादों से भरपूर है। मुक्तक रचना होते हुए भी सतसई में सतसईकार का प्रमुख ध्यान अलंकार, रस, भाव, नायिका-भेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि सब पर है और सभी के सुन्दर उदाहरण इसमें हैं। सतसई का रचनाकाल सं० १७१९ (सन् १६६२) है।

जीवनवृत्त—सतसईकार बिहारी का जीवनवृत्त भी पूर्ण ज्ञात नहीं है। बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था, पर वे प्रसिद्ध आचार्य केशवदास नहीं थे। कुछ विद्वान् बिहारी का जन्म सं० १६५२ में मानते हैं[1], जिसका आधार यह दोहा है—

संवत जुग सर रस सहित, भूमि रीति जिन लीह।
कातिक सुधि बुध अष्टमी, जन्म हमहिं बिधि दीह॥

यह दोहा न तो सतसई की प्रामाणिक प्रतियों में बिहारी के नाम से मिलता है और न इसकी शैली में ही बिहारी का व्यक्तित्व झलकता है। यह किसी टीकाकार की ही सूझ जान पड़ती है। यह अपने पिता के साथ ग्वालियर से ओड़छा चले गए और वहाँ आचार्य केशवदास के ग्रन्थों का अध्ययन किया। बिहारी के पिता वहीं निम्बिन की गद्दी के महंत नरहरिदास के शिष्य हो गए। ओड़छा के राजा इन्द्रजीतसिंह का राग-रंग समाप्त हो जाने पर जब केशवदास गंगातट जाकर रहने लगे तो ये लोग वृन्दावन आकर रहने लगे। बिहारी का विवाह मथुरा में हुआ। कहा जाता है कि शाहजहाँ ने मथुरा आने पर बिहारी के सम्बन्ध में सुना था। इन्हें आगरा बुला भी लिया गया था और शाहजहाँ तथा अन्य राजाओं से बिहारी को वृत्ति भी मिली थी।[2] उसके बाद यह आगरा तथा जयपुर गये और वहाँ अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में वशीभूत मिर्जा राजा जयसाह से प्रसिद्ध दोहे द्वारा परिचय हुआ, जिसने

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', जनवरी १९१९।
२. 'बिहारी की वाग्विभूति', पृष्ठ ४, ५।

इसका लक्षण भरत के मतानुसार किया गया है—

मिलि विभाव अनुभाव वर संचारी सविलास।
अपर सुधाई भाव को परिपूरन सुप्रकास ॥[1]

भाव को लछिराम ने रस का मूल माना है। उनका कथन है कि जो चित्त के स्वभाव को रस के अनुकूल अवस्था में बदल दे वह भाव है। ये भाव दो प्रकार के हैं—एक स्थायी, दूसरे संचारी। स्थायीभाव अपने रस में ही लीन रहते हैं, पर संचारीभाव सभी रसों में संचार करते हैं। संचारीभाव के दो प्रकार हैं—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक संचारी सात्विक और मानसिक संचारी तेंतीस व्यभिचारी भाव हैं। इस प्रकार नौ स्थायी, आठ तन-संचारी और तेंतीस मन-संचारी मिलकर कुल पचास भाव हैं। स्थायीभाव के कारण,विभाव हैं और उसे अनायास प्रकट करने वाले व्यापार अनुभाव हैं। इस प्रकार रस के सम्बन्ध में लछिराम के विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं। रसों के वर्णन और उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। अष्टम कुसुम में भावाभास आदि का विवरण है। नवें में गुण और दसवें में अलंकार, एकादश कुसुम में शब्दालंकार तथा वृत्तियों का वर्णन और द्वादश कुसुम में दोष-निरूपण है। इसमें गुण-रस 'रसगंगाधर' के आधार पर, ध्वनि 'काव्य प्रकाश' और चित्रकाव्य भट्टाचार्य के ग्रन्थ के अनुसार हैं। यद्यपि यह ध्वनि के ढाँचे पर है, पर रस और अलंकार का भी विशद वर्णन इसमें मिलता है। रीति-परम्परा की अन्तिम कड़ियों में लछिराम का यह ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

पोद्दार—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की 'रसमंजरी' रस का विस्तार से वर्णन करने वाली पुस्तक अवश्य है, पर उसका ढाँचा ध्वनि का ही है। पोद्दार जी ने विस्तृत अध्ययन के बाद 'काव्य प्रकाश' का प्रमुख आधार ग्रहण करते हुए यह ग्रन्थ लिखा है। इनका विचार है कि ध्वनि और अलंकार काव्य में मुख्य स्थान रखते हैं। रस, भाव आदि ध्वनि से ही आते हैं और अलंकार की उक्ति-वैचित्र्य से ही सुशोभित होते हैं। 'रसमंजरी' ग्रन्थ में काव्य के लक्षण 'काव्य प्रकाश' के आधार पर देने के उपरान्त ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र या अलंकार के रूप में काव्य के भेद दिये गए हैं। फिर शब्द, अर्थ तथा अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शब्दशक्तियों का विवेचन है। शब्दशक्तियों का इतने विस्तार से निरूपण इसके पहले नहीं हुआ। इसके बाद ध्वनि के भेद तथा उसमें असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रसों का विवेचन पूर्ण विस्तार के साथ किया गया है। प्रत्येक रसांग की प्रामाणिक व्याख्या

१. 'रावणेश्वर कल्पतरु', ७·३।

द्वारा नवरसों का भली भाँति स्पष्टीकरण तथा रस-सम्बन्धी शंकाओं का समाधान कर रस के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न इस ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रसंग में रसास्वाद की प्रक्रिया से सम्बन्धित आरोप, अनुमिति, भुक्ति और अभिव्यक्ति-सम्बन्धी भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के मतों को भी प्रस्तुत किया गया है। रसानन्द को अलौकिक सिद्ध करने में दिये गए पोद्दारजी के तर्क, उनकी सूक्ष्म विवेचना-शक्ति के द्योतक हैं। रस का विस्तार से विवेचन होने पर भी वास्तव में पोद्दारजी ने इस ग्रन्थ में ध्वनि-सिद्धान्त का ही निरूपण किया है। इस दृष्टि से इसका नाम 'रसमंजरी' के स्थान पर 'ध्वनिमंजरी' होता तो अधिक उपयुक्त था। लेखक ने अनेक ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त 'काव्य प्रकाश' के आधार पर विचार प्रकट किये हैं। इसमें विवेचन पूरा गद्य में है, केवल उदाहरणों में ही कविता का प्रयोग हुआ है।

रामदहिन मिश्र—ध्वनि-सिद्धान्त के ही विवेचन को लक्ष्य बनाकर लिखा गया रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक' (द्वितीय उद्योत) है, जिसमें शब्दशक्तियों और ध्वनि का पूरे विस्तार के साथ विवेचन है। इस ग्रन्थ में 'रसमंजरी' से अधिक पूर्ण व्याख्या मिलती है। इसमें आधुनिक काव्य के भी उदाहरण दिये गए हैं।

इस प्रकार इन ग्रन्थों का प्रयत्न काव्य के सिद्धान्तों को स्पष्ट करना हो गया। रीति-साहित्य की विशेषता इन ग्रन्थों में केवल उद्देश्य में ही देखी जा सकती है। इन अधिकांश आधुनिक ग्रन्थों को रीतिशास्त्र की अपेक्षा काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ कहना ही अधिक उपयुक्त है; क्योंकि रीति-साहित्य के अपने विशिष्ट अर्थों में पद्य में लक्षण देना, स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करना और लक्षण देने के उद्देश्य के बहाने काव्य-रचना की एक प्रणाली अपनाना, आधुनिक ग्रन्थों का लक्ष्य नहीं रह गया। वास्तव में रीति-साहित्य की परम्परा अब समाप्त ही समझनी चाहिए।

इसी प्रसंग में दो ग्रन्थों का उल्लेख और करना आवश्यक है। एक है जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'काव्य-प्रभाकर' और दूसरा है रामदहिन मिश्र का 'काव्य-दर्पण'। ये दोनों ग्रन्थ प्रधानतया उसी परम्परा के रूप हैं।

काव्य-प्रभाकर—काव्य के भिन्न-भिन्न प्रसंगों को लेकर लिखा गया ग्रन्थ है, जिसे किसी एक सिद्धान्त या सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं कहा जा सकता, वरन् सभी विषयों का इसमें विस्तारपूर्वक विवेचन है। 'काव्य-प्रभाकर' का प्रकाशन सन् १६१० (सं० १९६७ वि०) में हुआ था। यह काव्यशास्त्र

का कोश-सा है। भानुजी ने काव्यशास्त्र की उपयुक्त और प्रामाणिक बातों का संग्रह-सा किया है। काव्य-सम्बन्धी समस्त विषय सहज ही ज्ञात हो सकें, इसी उद्देश्य को लेकर यह ग्रन्थ लिखा गया है, जैसा कि इसकी भूमिका से स्पष्ट भी है।[1] छन्दों के प्रसंग में भानुजी ने कौन छन्द किस रस के वर्णन के लिए अधिक उपयुक्त है, इसका भी निर्देशन किया है। इस सम्बन्ध में भानुजी का मत चाहे सर्वमान्य न हो, पर प्रयत्न सराहनीय है। काव्य का प्रयोजन, कारण, शब्दार्थ-निरूपण, ध्वनि-भेद, राग-रागिनी, नायिका-भेद, विभाव, अनुभाव, संचारी, स्थायीभाव तथा रस, अलंकार आदि के प्रसंगों पर विस्तार से सामग्री 'काव्य-प्रभाकर' में दी गई है। इनका महत्त्वपूर्ण प्रसंग 'काव्य निर्णय' पर है। इसके अन्तर्गत काव्य के विभिन्न विद्वानों के लक्षण और उनकी आलोचना है। भानुजी ने सबसे निर्दोष परिभाषा पण्डितराज जगन्नाथ की मानी है। इसी प्रसंग में भेदोपभेद-सम्बन्धी विभिन्न मत दिये गए हैं। ध्वनिभेद-निर्णय के भीतर भानुजी मुख्य १८ भेद ही मानते हैं, जबकि किसी-किसी लेखक या टीकाकार ने मूल भेद ५१ और कुल भेद ३४,०६,२३,६०० माने हैं। कवि-परिपाटी के प्रसंग में संख्या शब्दकोश, समस्यापूर्ति उसके बाद कोष, लोकोक्ति-संग्रह आदि के प्रसंग हैं। भानुजी ने कविशिक्षा-विषय पर भी लिखा है, जिस पर केशव के अतिरिक्त और किसीने नहीं लिखा। इस प्रकार यह ग्रन्थ काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान का भण्डार है।

काव्य-दर्पण—विद्यावाचस्पति रामदहिन मिश्र की यह महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें इन्होंने भूमिका के अन्तर्गत काव्य-शास्त्र के महत्त्व को प्रकट किया है और आज के उठाये काव्य-सम्बन्धी अनेक भ्रान्तिपूर्ण आक्षेपों का उत्तर दिया है। काव्य का लक्ष्य, लक्षण, विभिन्न रूप, काव्य और कलाएँ तथा काव्य-सम्प्रदायों पर इसके भीतर विचार प्रकट किये गए हैं। मूल ग्रन्थ में प्रथम प्रकाश के भीतर काव्य के लक्षण, कारणादि का विवेचन है। द्वितीय में शब्दशक्ति, तृतीय, चतुर्थ, पंचम में रस, छठे में ध्वनि, सातवें में काव्य के विभिन्न रूप, आठवें में दोष, नवें में गुण, दसवें में रीति तथा ग्यारहवें और बारहवें में अलंकारों का वर्णन विस्तारपूर्वक है। ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर व्यापक रीति से विभिन्न मतों की समीक्षा और पाश्चात्य दृष्टिकोण का उल्लेख भी किया गया है। इसका लक्षण और व्याख्या-भाग अत्यन्त स्पष्ट है और उदाहरण भी सुन्दर, उपयुक्त हैं तथा प्राचीन और नवीन दोनों ही

१. 'काव्य प्रभाकर', भूमिका, पृ० १।

प्रकार के हिन्दी-कवियों की रचनाओं से चुने गए हैं। बीच-बीच में वर्गीकरण चार्ट भी हैं। पाद-टिप्पणियों में संस्कृत के प्रामाणिक उद्धरण ग्रन्थ का गौरव बढ़ाने वाले हैं। काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों की इसमें प्रामाणिक, स्पष्ट और सोदाहरण व्याख्या है। यह रीति-परम्परा और आधुनिक काव्य-शास्त्र का समन्वित रूप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-शास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा है, जोकि आधुनिक युग तक चली आई है। आज जो ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं वे काव्य-शास्त्र पर विवेचनापूर्ण दृष्टिकोण से लिखे जा रहे हैं। जिन प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर रीति-साहित्य का निर्माण हुआ था, वे भी अब समाप्त हो गई हैं। हम कह सकते हैं कि रीति-शास्त्र के ग्रन्थ आधुनिक काव्य-शास्त्र की ही पूर्व-परम्परा हैं। इसी रूप में उनका महत्त्व है। हाँ, इतनी बात है कि पूर्ववर्ती रीति-ग्रन्थों की प्रेरणा केवल समीक्षात्मक या विवेचनात्मक न होकर रचनात्मक भी थी, जैसा कि आज हम नहीं देखते हैं।

सखिन दियो उपदेस जो, नहिं कैसेहु ठहरात।
नवल नेह चित चीकने, ढरकि तोय लों जात ॥ (दृष्टांत)
जहाँ तहाँ रितुराज में, फूले किंशुक जाल।
मानहु मान मतंग के, अंकुश लोहू लाल ॥ (उत्प्रेक्षा)

ऐसे ही अनेक सुन्दर अलंकारों की आभा मतिराम के काव्य में पाई जाती है। कोमलावृत्ति माधुर्य गुण के साथ यमक का एक उदाहरण कितना सुन्दर है—

श्रम जल कन झलकन लगे, अलकनि कलित कपोल।
पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल ॥

ये समस्त उदाहरण उत्तम काव्य के हैं, जिनमें व्यंग्यार्थ का चमत्कार है। नायिका की विभिन्न चेष्टाओं और दशाओं का संकेत मतिराम की विलक्षण मनोवैज्ञानिक सूझ को स्पष्ट करने वाला है। ये चित्र अत्यन्त मनमोहक हैं और एक सहज अज्ञात सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले हैं। कुछ चित्र ये हैं—

पगी प्रेम नंदलाल के, भरन आपु जल जाइ।
घरी घरी घर के तरें, घरनि देति ढरकाइ ॥
दिपै देह दीपति गयो, दीप बयारि बुझाय।
अंचल ओट किये तऊ, चली नवेली जाय ॥
दूनी मुख में छवि भई, बेसरि धरी उतारि।
हरि के उर सोई लगी, करत रसोई नारि ॥
कोंपनि ते किसलय जबै, होंइ कलिन ते कौल।
तब चलाइयत चलन की, चरचा नायक नौल ॥
रात्यौ दिन जागत रहै, अगिनि लगनि की मांहि।
मो हिय मैं तू बसति है, आंच न पहुँचत तोंहि ॥

अत्युक्ति में मतिराम बिहारी से कम नहीं हैं। बिहारी का 'पत्रा ही तिथि पाइये' वाला दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है। अब मतिराम की अत्युक्ति देखिए—

जब जब चढ़ति अटानि दिन, चन्द्रमुखी यह बाम।
तब तब घर घर भरत हैं दीप बारि सब गाम ॥

विचित्र अत्युक्ति है। मैं समझता हूँ कि कवि को, वर्षा ऋतु में, यह और जोड़ देना चाहिए।

मतिराम में बिहारी की-सी प्रौढ़ता और 'काइयाँपन' नहीं, पर भावुकता और कोमलता बड़ी मोहक है। मतिराम के अधिकांश चित्र एक

का बढ़ा-चढ़ा वर्णन मिलता है जो चारण-वृत्ति का द्योतक है, जिसका उद्देश्य राजाश्रय और राजकृपा-प्राप्ति है। इसमें झूठी प्रशंसा भी आ जाती है। प्रथम काव्य जहाँ पर अन्तर्मुखी या अलौकिक आलम्बन को लेकर लिखा गया है, दूसरे प्रकार का काव्य घोर ऐहिकतावादी है जिसका भी सीमित प्रभाव हो सकता है, जैसा पहले कहा जा चुका है। इसके साथ-ही-साथ इस प्रकार के काव्य न तो व्यापक रूप से कवि-प्रतिभा को ही प्रेरणा प्रदान करते हैं और न अत्यन्त जनप्रिय काव्य बनते हैं। सूक्ष्म कलात्मक विकास इसमें देखने को नहीं मिलता। 'आल्हा' इन काव्यों में सर्वाधिक जनप्रिय रहा, पर उसका प्रमुख कारण उसमें लोकगीत की सरल विशेषता तथा प्रबल भाव-प्रवाह है, उत्कृष्ट कवित्व और सूक्ष्म कला उसमें बहुत कम है।

भक्तिकाल में अधिकांश काव्य धार्मिक और आध्यात्मिक भावना को ही प्रेरित और प्रभावित करता रहा, फिर भी भक्ति-काव्य की व्यापक अपील का प्रमुख कारण आलम्बन में तन्मयता और सचाई के साथ-साथ कवित्व का समावेश है। भक्तिकालीन कवियों में कबीर ही ऐसे हैं जिन्हें कवित्व की ओर कुछ भी ध्यान नहीं, इसीलिए कबीर की बानी नाथों और सिद्धों की बानी की परम्परा में ही कड़ी जोड़ने वाली है। कबीर की बानी में कवित्व का समावेश उनकी गहरी भावानुभूति, विलक्षण प्रतिभा और चुभती उक्ति के कारण हो गया है। शायद कबीर ही ऐसे विलक्षण व्यक्ति हैं जिनका काव्य, कवित्व-सम्बन्धी ज्ञान और ध्यान न होने पर भी, इतना प्रभावपूर्ण है। इसका कारण उनका व्यक्तित्व है। काव्य की ओर से इतना उदासीन रहकर ऐसा प्रभावशाली कवि ढूँढ़ने पर भी मिलना कठिन है। फिर भी कबीर का काव्य आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले लोग ही सुनते हैं और ऐसा काव्य लिखने की प्रेरणा भी ऐसे ही लोगों को प्राप्त होती है। जायसी आध्यात्मिक कवि होते हुए भी काव्यशास्त्र से अनभिज्ञ न थे। उनका नखशिख सौन्दर्य-वर्णन, संयोग, वियोग आदि का चित्रण इस बात के प्रमाण हैं। सगुण-भक्ति को लेकर चलने वाले कवियों में तो काव्यशास्त्र का ज्ञान प्रत्यक्ष है। तुलसी के 'कवित विवेक' न होने की दुहाई देने पर भी अलंकार, ध्वनि, रस, गुण आदि का परिपाक और दोषहीन भाषा का औचित्यपूर्ण प्रयोग, उनके व्यापक काव्य-ज्ञान का मुखर प्रमाण है। रस के मर्मज्ञ सूर तथा अन्य अष्टछाप के कवियों के लिए तो कहना ही क्या है? परन्तु, काव्यशास्त्र का इनका ज्ञान होते हुए भी इनका काव्य रीतिकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनका प्रमुख उद्देश्य भक्ति-भावना का प्रकाशन है। इनमें से किसीका भी शुद्ध काव्य-रचना का

स्पष्ट करते हैं। सौन्दर्य के पारखी और सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले मतिराम हिन्दी-रीतिकाव्य के श्रेष्ठ कवियों में से हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भूषण—रीति-परम्परा का पालन करते हुए और भाई होते हुए भी भूषण की प्रवृत्ति मतिराम के बिलकुल विपरीत है। भूषण का काव्य ओज-पूर्ण और वीर-रस से ओतप्रोत है। अतः रीतिकाव्य की शृंगारिक परम्परा का ये अनुगमन न करके वीर-परम्परा का मार्ग प्रशस्त करने वाले हैं। वीर-रस पर लिखने वाले तो रीतिकाल में और भी कवि हैं, पर रीति-परम्परा पर वीर-काव्य लिखने वाले तो भूषण ही हैं। वीर को लेकर नायिका-भेद की परिपाटी अभी नहीं बनी। अस्तु, भूषण की रचना में आलंकारिक सौन्दर्य ही प्रमुखतया देखने को मिलता है। हाँ भाव का वर्णन अवश्य सुन्दर है, किन्तु वह भी वीर-रस से सम्बन्धित भावों का।

'शिवराज भूषण' अलंकारों का उदाहरण प्रस्तुत करता ही है, परन्तु उसमें भाव, रस, गुण और वक्रोक्ति के भी सुन्दर रूप मिलते हैं। ओजगुण तो प्रधान है और वीर रस भी। वीर रस से सम्बन्धित अद्‌भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र भी 'शिवराज भूषण' में प्रस्फुटित हुए हैं। युद्ध-वीर का एक उदाहरण है—

> छूटत कमान बान बंदूकरु कोकवान,
> मुसकिल होत मुरचानहू की ओट मे।
> ताहि समै शिवराज हुकुम कै हल्ला कियो
> दावा बांधि द्वेषिन पै वीरन लै जोट में॥
> भूषन भनत तेरी हिम्मति कहाँ लौं
> कहौं किम्मति इहाँ लगि है जाकी भटझोट में।
> ताव दै दै मूँछन कंगूरन पै पाँव दै दै घाव
> दै दै अरि मुख कूदे मेरे कोट में।

वीर के चार रूप दान, धर्म, दया और युद्ध माने जाते हैं। 'शिवराज भूषण' के एक छन्द में चारों भावों के उदाहरण मिलते हैं—

> दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहू की
> सम्पति लुटाइबे को हियो ललकत है।
> साहि के सपूत सिवसाहि के वदन पर
> सिव की कथान मैं सनेह झलकत है।
> भूषन जहान हिंदुवान के उबारिबे को
> तुरकान मारिबे को बीर बलकत है।

ने छोटे-छोटे कई ग्रन्थ लिखे और संस्कृत, फ़ारसी, हिन्दी तीनों के यह ज्ञाता थे। इनकी विनोदप्रियता, मर्मस्पर्शी अनुभूति और जीवन की विविध परिस्थितियों के अनुभव काव्य को स्मरणीय बनाते हैं और इनकी कवित्व-प्रतिभा के द्योतक हैं। रीतिकाव्य के क्षेत्र में आने वाला इनका ग्रन्थ 'बरवै-नायिका-भेद' है, जिसमें लोक-जीवन के प्रेम और शृंगारपूर्ण आशा-आकांक्षाओं से भरे मधुर चित्र विद्यमान हैं, यथा—

लहरति लहर लहरिया लहर बहार।
मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार॥
भोरहिं होत कोयलिया बढवति ताप।
घरी एक भरि अलिया रहु चुपचाप॥
चूनत फूल गुलबवा डार कटील।
टुटिगो बन्द अंगिअवा फटु पट नील॥
बाहर लेके दियवा बारन जाइ।
सासु ननद घर पहुँचत देति बुझाइ॥
उमड़ि उमड़ि घन घुमड़े दिसि बिदिसान।
सावन दिन मन भावन करत पयान॥[1]

उपर्युक्त चित्र कितने स्पष्ट और मनोमोहक हैं, जो कवि की सौन्दर्य और भाव-पारखी दृष्टि को प्रकट करते हैं। रहीम की काव्य-दृष्टि की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। ऐसे कवि ही काव्य के प्रति लोकरुचि को जगाने की क्षमता रखते हैं।

बलभद्र मिश्र—ओरछा के रहने वाले आचार्य केशवदास के बड़े भाई थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नखशिख' है, जिसमें नायिका के अंगों का वर्णन, अलंकारपूर्ण शैली में हुआ है। प्रमुखतया प्रयुक्त अलंकार उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि हैं। उनके अन्य ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं, पर 'नखशिख' रीति-काव्य का एक सुन्दर ग्रन्थ है।

भक्तिकाल के अन्य रीति-कवि

केशव की गणना रीतिशास्त्र के आचार्यों में है, रीति-कवियों में नहीं, यद्यपि इनका काव्य अपनी अलग विचित्र महत्ता रखता है। 'रसिक प्रिया' और 'कवि प्रिया' के अनेक उदाहरण बड़े ही मार्मिक हैं। भक्तिकाल की सीमा में ही रीतिकाव्य के प्रसिद्ध कवि मुबारक का भी उल्लेख आवश्यक है। मुबारक का रचनाकाल सं० १६६० तक माना जाता है। यह बिलग्राम के रहने

१. 'रहीम रत्नावली', 'बरवै नायिका भेद।'

वाले थे और इनका नाम सैयद मुबारक अली था। संस्कृत, फ़ारसी, अरबी के पण्डित और हिन्दी के कवि मुबारक ने मार्मिक दोहों की रचना की। इनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलक शतक' और 'तिल शतक' इनकी कीर्ति के स्तम्भ हैं, जो नखशिख होते हुए भी आलंकारिक चमत्कार से युक्त हैं।

रीतिकालीन रीतिकाव्य

रीतिकाव्य की प्रेरणा प्रमुखतया आचार्य केशवदास और अकबर के दरबारी कवियों से प्राप्त हुई थी। इस परम्परा के साथ काव्य की एक स्वच्छन्द धारा का विकास हुआ, जिसके प्रवाह ने रीतिकाल में समस्त काव्य-रसिकों को ओत-प्रोत कर दिया। इस युग के रीति-कवियों में सबसे प्रथम सेनापति का नामआता है।

सेनापति—कविपुंगव सेनापति के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में बहुत कम बातें ज्ञात हैं। अब तक जो सामग्री प्राप्त है, वह अन्तस्साक्ष्य द्वारा ही है। अपने ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' के प्रारम्भ में सेनापति ने अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार इनके दादा (पितामह) का नाम परशुराम दीक्षित और पिता का नाम गंगाधर दीक्षित था, जो शंकर के समान थे और गंगा के किनारे अनुपम बस्ती में उनका निवासस्थान था। विद्वानों में शिरोमणि हीरामणि दीक्षित से इन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। ऐसे सेनापति सीतापति राम के उपासक थे और उनको कविता का सभी आदर करते थे।[1] सेनापति की कविता का प्रधान गुण श्लेष-चमत्कार है और इस गुण में केशव को छोड़कर अन्य हिन्दी के कवि सेनापति की समता नहीं कर सकते। सभंगपद श्लेष और अभंगपद श्लेष दोनों ही का चमत्कार हमें इनकी रचना में देखने को मिलता है। 'कवित्त रत्नाकर' की पहली तरंग श्लेष-वर्णन में ही लगी है। अपने वर्णन की चतुराई से सेनापति ने दानी और कंजूस दोनों ही को एक कोटि में रख दिया है, यथा—

थोरौ कछू माँगे होत राखत पै प्रान लगि,
रूखे मन मौन ह्वै रहत रिस भरिहैं।
आपने बसन देत जोरिबे की रति लेत,
बितरत जात धन धरा ही में धरिहैं।
जाँचत ही जाचक सौं प्रगट कहत तुम,
चिन्ता मति करौ हम सो असान करिहैं।

१. 'कवित्त रत्नाकर', १, ५।

> बानी द्वै अरथ सेनापति की बिचारि देखौ,
> दाता अरु सूम दोऊ कीन्हे सरवरि हैं।[1]

श्लेष के आधार पर अनेक रोचक साम्य सेनापति ने स्थापित किये हैं। रामकः गंगाधार के समान, गंगा में मज्जन अंजन के समान, वचन ऊँख के समा: तथा सीतापति साह के समान इसमें देखने को मिलते हैं। अन्तिम रोचः श्लेष का चमत्कार देखिए—

> जाके रोजनामे सेस सहस बदन पढ़े,
> पावत न पार जऊ सागर सुमति को।
> कोई महाजन ताकी सरि कौ न पूछैं नभ,
> जल थल व्यापि रहै अद्भुत गति को।
> एक एक पुर पीछे अगनित कोठा तहाँ,
> पहुँचत आप संग साथी न सुरति को।
> बानियै बखानी जाकी हुण्डी न फिरति सोई,
> नाहु सिय रानी जू कौ साहु सेनापति कौ ॥[2]

उपर्युक्त वर्णनों में केशव की रचना का-सा प्रभाव दिखलाई देता है।

'कवित्त रत्नाकर' की दूसरी तरंग में शृङ्गार-वर्णन है, जिसके भीत नखशिख-सौन्दर्य, उद्दीपन, भाव, वयस्सन्धि आदि का वर्णन है। इसमें कहीं कहीं सुन्दर चित्र हैं, पर अधिकांश प्रयत्न शब्द-चमत्कार-प्रदर्शन में ही सफ लता पा सका है। रूप-चित्रण में भाव-साम्य या गुण-साम्य कम है, फिर भं सेनापति की रचना का अद्भुत प्रभाव है। एक चित्र देखिए—

> नूपुर कौं झनकाइ मंद ही धरति पाइ,
> ठाढी आइ आंगन भई ही साँझी बार सी।
> करता अनूप कीन्हीं रानी मैन भूप की-सी,
> राजै रासि रूप की बिलास कौं अधार-सी।
> सेनापति जाके दृग दूत ह्वै मिलत दौरि,
> कहत अधीनता कौ होत हैं सियार-सी।
> गेह कौ सिंगार-सी सुरत सुख सार-सी,
> सो प्यारी मानौ आरसी चुभी है चित आर-सी ॥

ये छन्द बड़ी ही सुन्दर तुली हुई गति से चलते हैं।

सेनापति की ख्याति वास्तव में तीसरी तरंग के साथ अब तक फैल

१. 'कवित्त रत्नाकर', १, ४१।
२. 'कवित्त रत्नाकर', १, ६६।

है, जिसमें उन्होंने उत्कृष्ट ऋतु-वर्णन प्रस्तुत किया है। शब्दार्थ-चमत्कार के साथ-साथ ऋतु के सहज और यथार्थ व्यापार वर्णित ऋतु का समा बाँधने में पूर्ण समर्थ हैं, साथ ही उस ऋतु में उठने वाले लोक-मानस के सहज भाव भी इन ऋतु-वर्णनों में तरंगित हैं। सेनापति के ये छन्द अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अतः इनके अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। झमक और झूम के साथ आने वाली वर्षा ऋतु का समान झमक के साथ चित्रण करने वाला एक छन्द है—

गगन अंगन घनाघन तैं सघन तम,
सेनापति नेक हूँ न नैन अटकट हैं।
दीप की दमक जीगनान की झमक छांड़ि,
चपला चमक और सो न अटकत हैं।
रवि गयौ दबि मानौ ससि सोऊ धसि गयौ,
तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत हैं।
मानौं महातिमिर तैं भूलि परी बाट तातैं,
रबि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं॥[1]

चौथी और पाँचवीं तरंगों में राम का चरित्र और रामभक्ति-भावना का संक्षिप्त सुन्दर चित्रण है। इनमें शृङ्गार, वीर, शान्त और भक्ति-भाव प्रधान हैं। चौथी तरंग रीतिकाव्य की विशेषता नहीं रखती। पाँचवीं तरंग भी ऐसी ही होती, यदि अन्त में आलंकारिक चमत्कार की प्रखरता न आ जाती। यह यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, प्रश्नोत्तर, एकाक्षर, द्वयाक्षर, अमात्रिक छन्द, शब्द-चमत्कार की सुन्दर विशेषताओं से युक्त है।

सेनापति की कविता में उनकी प्रतिभा फूटी पड़ती है। एक निश्चित लय में सन्तुलित गति से चलती हुई पंक्तियाँ नर्तकी के सन्तुलित पदसंचार तथा वर्णों और शब्दों के ध्वनि-सौन्दर्य, नृत्य की ललित झमक और अबाध प्रवाह से युक्त हैं। सेनापति का शब्द-चयन उनके भाषा-सम्बन्धी असाधारण अधिकार का द्योतक है। उनकी विलक्षण सूझ छन्दों में उक्ति-वैचित्र्य का रूप धारण कर प्रकट हुई है जो छन्द को स्मरणीय बनाती है। वे अपने उक्ति-चमत्कार से मन और बुद्धि को चमत्कृत कर देते हैं। सेनापति के छन्द मँजे हुए हैं। कुशल सेनापति के दक्ष सिपाहियों और ओजस्वी सैनिकों की भाँति वे पुकारकर कहते हैं कि हम 'सेनापति' के हैं।

'कवित्त रत्नाकर' की रचना सं० १७०६ (सन् १६४९) में हुई। यह

१. 'कवित्त रत्नाकर', ३. २६।

समय रीतिकाल का प्रारम्भ ही है। रीति-काव्य की इस प्रथम महत्त्वपूर्ण रचना ने हिन्दी रीति-काव्य को अतिशय प्रेरणा प्रदान की, इसमें सन्देह नहीं।

बिहारी—बिहारीलाल रीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और उनकी यह ख्याति उनके अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई' पर आधारित है। सतसई-साहित्य में 'बिहारी सतसई' सर्वश्रेष्ठ है। यह जयपुर के महाराज जयशाह के आदेश पर लिखी गई, जैसा बिहारी ने अन्त में लिखा है—

हुकुम पाय जयसाह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक संवाद॥

बिहारी की सतसई वास्तव में अनेक संवादों से भरपूर है। मुक्तक रचना होते हुए भी सतसई में सतसईकार का प्रमुख ध्यान अलंकार, रस, भाव, नायिका-भेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि सब पर है और सभी के सुन्दर उदाहरण इसमें हैं। सतसई का रचनाकाल सं० १७१९ (सन् १६६२) है।

जीवनवृत्त—सतसईकार बिहारी का जीवनवृत्त भी पूर्ण ज्ञात नहीं है। बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था, पर वे प्रसिद्ध आचार्य केशवदास नहीं थे। कुछ विद्वान् बिहारी का जन्म सं० १६५२ में मानते हैं[1], जिसका आधार यह दोहा है—

संवत जुग सर रस सहित, भूमि रीति जिन लीह।
कातिक सुधि बुध अष्टमी, जन्म हमहि बिधि दीह॥

यह दोहा न तो सतसई की प्रामाणिक प्रतियों में बिहारी के नाम से मिलता है और न इसकी शैली में ही बिहारी का व्यक्तित्व झलकता है। यह किसी टीकाकार की ही सूझ जान पड़ती है। यह अपने पिता के साथ ग्वालियर से ओड़छा चले गए और वहाँ आचार्य केशवदास के ग्रन्थों का अध्ययन किया। बिहारी के पिता वहीं निम्बिन की गद्दी के महंत नरहरिदास के शिष्य हो गए। ओड़छा के राजा इन्द्रजीतसिंह का राग-रंग समाप्त हो जाने पर जब केशवदास गंगातट जाकर रहने लगे तो ये लोग वृन्दावन आकर रहने लगे। बिहारी का विवाह मथुरा में हुआ। कहा जाता है कि शाहजहाँ ने मथुरा आने पर बिहारी के सम्बन्ध में सुना था। इन्हें आगरा बुला भी लिया गया था और शाहजहाँ तथा अन्य राजाओं से बिहारी को वृत्ति भी मिली थी।[2] उसके बाद यह आगरा तथा जयपुर गये और वहाँ अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में वशीभूत मिर्जा राजा जयसाह से प्रसिद्ध दोहे द्वारा परिचय हुआ, जिसने

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', जनवरी १६१६।
२. 'बिहारी की वाग्विभूति', पृष्ठ ४, ५।

एक साथ महाराज जयसिंह की आँखें और बिहारी का भाग्य खोल दिया। वह प्रसिद्ध दोहा यह है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सौं बिंध्यौ आगे कौन हवाल॥

इसके बाद सतसई की रचना हुई और बिहारी की ख्याति बढ़ती गई। इसके उपरान्त बिहारी न केवल राजपरिवार में, वरन् कवि-मण्डली में सम्मानित हुए। बिहारी को लोक-जीवन के विविध अनुभव प्राप्त थे। उनकी रचना में कहीं कच्चापन नहीं झलकता। प्रत्येक दोहा कलात्मक पूर्णता का एक रूप है। हिन्दी के कला-प्रधान कवियों में बिहारी अग्रगण्य हैं।

बिहारी की कृति सतसई-परम्परा की एक उज्ज्वल कड़ी है। 'गाथा-सप्तशती', 'आर्यासप्तशती' एवं 'अमरुशतक' आदि मुक्तक ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर बिहारी ने यह एक विविध रत्नमणिमाल तैयार की है, जिसकी आभा के कारण आज भी मुक्तक साहित्य जगमगाने लगता है।

रीतिकाव्य के रूप में बिहारी की रचना आदर्श है। अलंकार, रस, भाव, नायिका आदि का वर्णन इसमें है, परन्तु लक्षण नहीं हैं। अलंकार के कुछ सुन्दर उदाहरण नीचे लिखे दोहों में देखे जा सकते हैं—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥ (स्मरण)

चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा ये हलधर के बीर॥ (श्लेष)

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति।
हरे बांस की बांसुरी इन्द्र धनुष रंग होति॥ (तद्गुण)

केसरि के सरि क्यों सके चंपक कितक अनूप।
गात रूप लखि जात दुरि जात रूप को रूप॥ (प्रतीप)

अंग-अंग नग जगमगति दीप शिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हूँ रहैं बड़ो उजेरो गेह॥ (उपमा, अत्युक्ति)

कुछ दोहों को छोड़कर समस्त 'बिहारी सतसई' में आलंकारिक चमत्कार है, भाव-सौन्दर्य है, नायिका का वर्णन है, साथ ही ध्वनि-काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। इनको लेकर बिहारी की व्याख्या अनेक टीकाकारों ने की है। अतः यह सिद्ध करने की बात नहीं कि बिहारी की रचना रीतिकाव्य है।

बिहारी के इस प्रकार के काव्य की निजी विशेषताएँ हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा है कि यूरोपियन काव्य में बिहारी के समकक्ष कोई काव्य नहीं मिला

(I know nothing like his verses in any European Languages)। बिहारी प्रेम और कला दोनों ही को महत्त्व देते थे। उन्होंने लिखा है—

तन्त्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग॥

बिहारी का समस्त जीवन काव्य-साधना में ही व्यतीत हुआ। यही कारण है कि उनका एक-एक दोहा हमारे अन्तस् को स्पर्श करता है और आँखों के सामने एक सौन्दर्यपूर्ण प्रेम, क्रीड़ा से भरा संसार प्रत्यक्ष कर देता है।

बिहारी की काव्य-माधुरी को हम तीन रूपों में देख सकते हैं—१. भाषा-माधुरी, २. रूप-माधुरी और ३. भाव-माधुरी। यद्यपि अधिकांश में ये तीनों ही प्रकार की माधुरी एक साथ ही पाई जाती हैं, फिर भी हम उन्हें अलग-अलग देख सकते हैं। भाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार है। शब्द और वर्ण के स्वभाव की परख जितनी बिहारी को है उतनी शायद ही किसीको हो। शब्द और वर्ण दोहों में नगों के समान जड़े हैं और रत्नों के समान चमकते हैं। शब्द को मांजने, चमकाने, मोड़ने और संवारने की कला में बिहारी अत्यन्त दक्ष हैं। इन शब्दों द्वारा रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। एक रमणी के पगतल का सौन्दर्य-वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

पग-पग मग अगमन परति, चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर-ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूलि॥

बिहारी की रचना में व्रजभाषा इठलाती और अठखेलियाँ करती हुई चलती है। कहीं-कहीं उसकी मस्त गति में संगीत की झमक एक विलक्षण मिठास प्रदान करती है। कुछ उदाहरण ये हैं—

लहलहाति तन तरुनई, लचि लगि लौं लफि जाय।
लगै लांक लोयन भरी, लोयन लेति लगाय॥
अंग-अंग नग जगमगत, दीप सिखा सी देह।
दिया बुझाये हू रहे, बड़ो उजेरो गेह॥
रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन॥
फिरि-फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव।
अंग-अंग छबि झौंर में भयो भौंर की नाव॥
हरि छवि जल जब ते परे तब तें छिन बिछुरैं न।
भरत ढरत बूड़त तिरत, रहट घटी लौं नैन॥

बड़े-बड़े छवि छाक छकि, छिगुनी छोर छुटै न।
रहे सुरंग रंग रंगि उंही नँह दी मंहदी नैन ॥

बिहारी की भाषा सरस, मधुर, प्रांजल, ललित और मंजुल है।

रूप-वर्णन में बिहारी के संक्षिप्त संकेत ही जगमगाता रूप निखार देते हैं। उनके एक-एक शब्द में रूप झाँकता है। उनके बाह्य रूप के वर्णन, वयस्सन्धि के चित्रण, आभूषणहीन सौन्दर्य, मधुर मादकता, गदराये यौवन के सुघर रूप की झलकें जीवन के यथार्थ रूप प्रस्तुत करते हैं। ये चित्र कोरे काल्पनिक नहीं हैं।

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोवन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपत ताफता रंग ॥
केसरि क्यों सरि करि सकै, चंपक कितक अनूप।
गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप ॥
वाहि लखे लोयन लगै, कौन जुवति की जोति।
जाके तन की छांह ढिग, जोन्ह छांह सी होति ॥
भई जु तन छवि बसन मिलि, बरनि सकै सुन बैन।
अंग ओप आंगी दुरी, आंगी अंग दुरै न ॥
मानहु बिधि तन अच्छ को, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को किये, भूषन पायंदाज ॥

कला को जीवन की स्फूर्ति मानने वाले बिहारी राधा-कृष्ण के रूप पर अनुराग करना ही तीर्थ, व्रत और जीवन की साधना मानते हैं। व्रज-भूमि राधा-कृष्ण की लीला-भूमि होने के नाते तीर्थराज प्रयाग से कम गरिमायुक्त नहीं।

तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करि अनुराग।
जिहिं व्रज केलि निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग ॥

बिहारी के भाव-वर्णन अतीव मधुर तथा सजीव हैं और उनके सूक्ष्म निरीक्षण के प्रमाण देते हैं। आन्तरिक अनुभूति से प्रभावित अंग-चेष्टाएँ, विभिन्न व्यापार, संकेत, सबका बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है, जिससे ये चित्र मानस में उतरकर फिर अमिट हो जाते हैं। भाव को प्रकट करने वाले कुछ वर्णन ये हैं—

सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झरसी झमकि कै गई झरोके झाँकि ॥

मुँह धोवति एंडी घसति, हँसति अनगवति तीर।
धँसति न इंदीवर नयनि, कालिन्दी के नीर॥
बतरस लालच लाल के, मुरली धरी लुकाय।
सौह करै भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाय॥
कहत, नटत, रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे मौन में करत हैं, नैननु हीं सब बात॥

इस प्रकार रूप और भाव के चित्रण में बिहारी अद्वितीय हैं। प्रेम में संयोग के विविध चित्र सतसई में हैं और वियोग की भी विलक्षण उक्तियाँ उनकी सूझ का परिचय देती हैं। अपने समय के प्रेम और रूप की धारणा का सफलतापूर्वक चित्रण करते हुए भी बिहारी की धारणा सौन्दर्य के चित्रण में नीचे लिखे दोहे में प्रकट हुई है—

लिखन बैठ जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

बिहारी की प्रतिभा की जितनी सराहना की जाय, थोड़ी है।

मतिराम—ललित शब्दावली में कोमल भावनाओं को व्यक्त करने वाले सुकुमार कल्पना के कवि मतिराम का काव्य भी रीतिकाव्य का प्रतिनिधित्व करता है। उनके ग्रन्थ 'ललितललाम', 'रसराज', 'अलंकार पंचशिका' आदि में यद्यपि लक्षण दिये हुए हैं, फिर भी प्रधानता उदाहरण-काव्य की ही है, अतः उनकी गणना रीतिशास्त्रियों से अधिक रीति-कवियों में होती है। ये ग्रन्थ न भी हों, तब भी केवल सतसई रीति-काव्य का सुन्दर रूप उपस्थित करती है। इसमें अलंकार, नायिकाभेद, रस, भाव आदि का वर्णन है। यों भी मतिराम एक आचार्य की अपेक्षा कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। मतिराम के अनेक दोहों में आलंकारिक सौन्दर्य अभिव्यक्त हुआ है। जैसे—

हसत बाल के बदन में, यों छबि कछू अतूल।
फूली चंपक बेलि तें, झरत चमेली फूल॥ (निदर्शना)
अटा ओर नंदलाल उत, निरखी नेक निसंक।
चपला चपलाई तजी, चंदा तजो कलंक॥ (भ्रम, रूपकातिशयोक्ति)
उमगी उर आनन्द की, लहरि छहरि दृग राह।
बूड़ी लाज जहाज लौं, नेह नीर निधि माह॥ (रूपक)
तेरी औरै भाँति की, दीपशिखा सी देह।
ज्यों-ज्यों दीपति जगमगै त्यों-त्यों बाढ़त नेह॥ (भेदकातिशयोक्ति)

सखिन दियो उपदेस जो, नहिं कैसेहु ठहरात।
नवल नेह चित चीकने, ढरकि तोय लों जात ॥ (दृष्टांत)
जहाँ तहाँ रितुराज में, फूले किंशुक जाल।
मानहु मान मतंग के, अंकुश लोहू लाल ॥ (उत्प्रेक्षा)

ऐसे ही अनेक सुन्दर अलंकारों की आभा मतिराम के काव्य में पाई जाती है। कोमलावृत्ति माधुर्य गुण के साथ यमक का एक उदाहरण कितना सुन्दर है—

श्रम जल कन झलकन लगे, अलकनि कलित कपोल।
पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल ॥

ये समस्त उदाहरण उत्तम काव्य के हैं, जिनमें व्यंग्यार्थ का चमत्कार है। नायिका की विभिन्न चेष्टाओं और दशाओं का संकेत मतिराम की विलक्षण मनोवैज्ञानिक सूझ को स्पष्ट करने वाला है। ये चित्र अत्यन्त मन-मोहक हैं और एक सहज अज्ञात सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले हैं। कुछ चित्र ये हैं—

पगी प्रेम नंदलाल के, भरन आपु जल जाइ।
घरी घरी घर के तरें, घरनि देति ढरकाइ ॥
दिपै देह दीपति गयो, दीप बयारि बुझाय।
अंचल ओट किये तऊ, चली नवेली जाय ॥
दूनी मुख में छवि भई, बेसरि धरी उतारि।
हरि के उर सोई लगी, करत रसोई नारि ॥
कोंपनि ते किसलय जबै, होंइ कलिन ते कौल।
तब चलाइयत चलन की, चरचा नायक नौल ॥
रात्यौ दिन जागत रहै, अगिनि लगनि की मोंहि।
मों हिय मैं तू बसति हैं, आंच न पहुँचत तोंहि ॥

अत्युक्ति में मतिराम बिहारी से कम नहीं हैं। बिहारी का 'पत्रा ही तिथि पाइये' वाला दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है। अब मतिराम की अत्युक्ति देखिए—

जब जब चढ़ति अटानि दिन, चन्द्रमुखी यह बाम।
तब तब घर घर धरत हैं दीप बारि सब गाम ॥

विचित्र अत्युक्ति है। मैं समझता हूँ कि कवि को, वर्षा ऋतु में, यह और जोड़ देना चाहिए।

मतिराम में बिहारी की-सी प्रौढ़ता और 'काइयाँपन' नहीं, पर भावुकता और कोमलता बड़ी मोहक है। मतिराम के अधिकांश चित्र एक

युवक की दृष्टि से देखे हुए किशोरावस्था के चित्र हैं, जिनमें अल्हड़ सुकुमारता और नवलता है। कवि की सुकुमार भावुकता ने इन्हें स्मरणीय बना दिया है। सौन्दर्य परखने की दृष्टि मतिराम की बड़ी ही बारीक है। मतिराम द्वारा प्रस्तुत नवविवाहिता नायिका के चित्र बड़े ही मनोमोहक हैं। लज्जापूर्ण प्रेम का एक चित्रण देखिए—

गौने के द्यौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन को गन आयो।
कंचन के बिछुवा पहिरावत प्यारी सखी परिहास जनायो।
पीतम स्रौन समीप सदा बजैं यों कहिकै पहिले पहिरायो।
कामिनि कौल चलावन कौं कर ऊँचो कियो पै चल्यौ न चलायौ॥

यहाँ सखियों के हास्य-विनोद के बीच भाव का वर्णन करते हुए मतिराम ने जीवन का कैसा स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है। हास्य-विनोद और भाव दोनों ही कितने मंजुल और कितने सुकुमार हैं। मतिराम द्वारा वर्णित एक विब्बोक हाव का चित्र देखिए—

मानहु पायो है राज कहूँ चढ़ि बैठे हो ऐसे पलास के खोढ़े।
गुंज गरे सिर मोर पखा मतिराम जू गाय चरावत चोढ़े।
मोतिन को मेरो तोर्‌यो हरा कर सौं पकरे रही चूनरि पोढ़े।
ऐसेहिं डोलत छैला भये तुम्हैं लाज न आवति कामरी ओढ़े॥

यहाँ हाव जो है सो तो है ही, जीवन में हास्य-विनोद का एक कितना मोहक दृश्य प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार के यौवन-सुलभ सहज चित्रण मतिराम की रचना में प्रचुरता से मिलते हैं। रूप और गुणों को एक साथ पाकर हम रीझते हैं। रूप और गुण पर रीझने वाली एक अल्हड़ मुग्धता का चित्रण देखिए--

मोर पंखा मतिराम किरीट मैं कंठ बनी बन माल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुण्डल डोलनि मैं छवि छाई।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई॥

रूप से मुग्ध करने वाला एक दूसरा चित्र दर्शनीय है—

कुन्दन को रंग फीको लगै झलकै असि अंगन चारु गुराई।
आंखिन में अलसानि चितौनि मैं मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नीरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकटै सी निकाई॥

रूप और प्रेम से भरे उपर्युक्त चित्र मतिराम की प्रमुख प्रवृत्ति को

स्पष्ट करते हैं। सौन्दर्य के पारखी और सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले मतिराम हिन्दी-रीतिकाव्य के श्रेष्ठ कवियों में से हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भूषण—रीति-परम्परा का पालन करते हुए और भाई होते हुए भी भूषण की प्रवृत्ति मतिराम के बिलकुल विपरीत है। भूषण का काव्य ओज-पूर्ण और वीर-रस से ओतप्रोत है। अतः रीतिकाव्य की श्रृंगारिक परम्परा का ये अनुगमन न करके वीर-परम्परा का मार्ग प्रशस्त करने वाले हैं। वीर-रस पर लिखने वाले तो रीतिकाल में और भी कवि हैं, पर रीति-परम्परा पर वीर-काव्य लिखने वाले तो भूषण ही हैं। वीर को लेकर नायिका-भेद की परिपाटी अभी नहीं बनी। अस्तु, भूषण की रचना में आलंकारिक सौन्दर्य ही प्रमुखतया देखने को मिलता है। हाँ भाव का वर्णन अवश्य सुन्दर है, किन्तु वह भी वीर-रस से सम्बन्धित भावों का।

'शिवराज भूषण' अलंकारों का उदाहरण प्रस्तुत करता ही है, परन्तु उसमें भाव, रस, गुण और वक्रोक्ति के भी सुन्दर रूप मिलते हैं। ओजगुण तो प्रधान है और वीर रस भी। वीर रस से सम्बन्धित अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र भी 'शिवराज भूषण' में प्रस्फुटित हुए हैं। युद्ध-वीर का एक उदाहरण है—

छूटत कमान बान बंदूकरु कोकबान,
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट मे।
ताहि समै शिवराज हुकुम कै हल्ला कियो
दावा बांधि द्वेषिन पै वीरन लै जोट में॥
भूषन भनत तेरी हिम्मति कहाँ लौं
कहौं किम्मति इहाँ लगि है जाकी भटझोट में।
ताव दै दै मूँछन कंगूरन पै पाँव दै दै घाव
दै दै अरि मुख कूदे मेरे कोट में।

वीर के चार रूप दान, धर्म, दया और युद्ध माने जाते हैं। 'शिवराज भूषण' के एक छन्द में चारों भावों के उदाहरण मिलते हैं—

दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहू की
सम्पति लुटाइबे को हियो ललकत है।
साहि के सपूत सिवसाहि के वदन पर
सिव की कथान मैं सनेह झलकत है।
भूषन जहान हिंदुवान के उबारिबे को
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है।

साहिन सों लरिबे की चरचा चलति आनि
सरजा के द्दगन उछाह भलकत है ॥

'उत्साह' स्थायी भाव के उपर्युक्त चारों रूप इस छन्द की पंक्तियों में देखने को मिलते हैं।

भूषण को भी मतिराम की भाँति रीतिकवि ही मानना चाहिए, क्योंकि प्रमुख उद्देश्य लक्षण-निर्माण या शास्त्र-विवेचन नहीं। अतः रीति के आचार्यों में चिन्तामणि, कुलपति आदि के साथ इन काव्य-प्रतिभा-प्रधान कवियों को नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार के बहुत से कवि हैं जिन्होंने इसी परिपाटी पर रचनाएँ कीं; पर प्रमुखतया उनकी देन काव्य के ही क्षेत्र में है, शास्त्र के क्षेत्र में नहीं। भूषण की विशेषता रीति-परम्परा पर वीर रस से सम्बन्धित ओजपूर्ण कविता करने में है और इस दृष्टि से भूषण अद्वितीय हैं।

देव—देवदत्त का जन्म सं० १७३० वि० (सन् १६७३ ई०) में हुआ था। 'भाव-विलास' की रचना देव ने १६ वर्ष की अवस्था में की थी, जैसा कि अन्त में दिये दोहों से प्रकट है—

शुभ सत्रह सै छियालिस चढ़त सोरही वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता भावविलास सहर्ष।
दिल्लीपति अवरंग के आजमसाह सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह अष्ट जाम संजूत ॥

'भाव-विलास' में भाव, नायिका-भेद, अलंकार तीनों का वर्णन है। मिश्र-बन्धुओं की खोज के अनुसार देव इटावा के रहने वाले थे और अब भी मैनपुरी में उनके वंशज रहते हैं। भवानीदत्त वैश्य के आश्रय में इन्होंने 'भवानी-विलास' लिखा। कुशलसिंह के नाम पर 'कुशल-विलास', उद्योतसिंह के लिए 'प्रेम चन्द्रिका' तथा भोगीलाल के लिए 'रस-विलास' ग्रन्थ देव ने बनाये। 'रस-विलास' की रचना सं० १७८३ में हुई। देव के कुल ७२ ग्रन्थ माने जाते हैं, जिनमें २७ ग्रन्थों के लगभग प्राप्त हैं। देव को आचार्य और कवि दोनों ही रूपों में सफलता प्राप्त हुई। मौलिकता और कवित्व-शक्ति दोनों ही देव की रचनाओं में देखने को मिलती हैं। भाव की पकड़, सूक्ष्म निरीक्षण, भाषा पर अधिकार, छन्द की मस्त गति, शब्द-वर्ण-मैत्री, सरसता और उक्ति-वैचित्र्य सब मिलकर देव की रचना को अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि प्रदान करते हैं। मानव-मनोभावों का देव को अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान है; यह इनके सब वर्णन के प्रसंगों से स्पष्ट हो जाता है जिनमें देव ने भावों को सजीव रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। शब्दों की विशेष गति से युक्त एक रूप का चित्रण और

उसका प्रभाव नीचे लिखे छन्द में देखने को मिलता है—

आई बरसाने ते बोलाई बृषभानुसुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई।
चक चकवानि के चकाये चकचोटन सो
चौंकत चकोर चकचौंधा सो चकै गई।
नन्दजू के नन्दजू के नैननि अनन्द भई,
नन्द जू के मन्दिरन चन्दमई छै गई।
कंजनि कलिनमई गुंजनि अलिनमई
गोकुल की गलिन नलिन मई कै गई॥

स्थायीभाव 'प्रेम' का चित्रण मिलन की उत्कण्ठा और अभिलाषा के साथ नीचे लिखे छन्द में हुआ है—

मूरति जो मनमोहन की मनमोहिनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
देव गोपाल को बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं नैनहिं लाज घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हियै हिरकी खिरकी खिरकी मैं फिरैं फिरकी सी॥

संयोग की विविध स्थितियों और वियोग की दशाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण देव ने किया है। वियोग की व्याधि दशा का एक चित्र इस प्रकार है—

लाल बिदेस वियोगनि बाल वियोग की आगि जई झुरि झुरी।
पान सों पानी सों प्रेम कहानी सों प्रान ज्यों प्राननि यों मत हूरी।
देव जु आजुहि ऐबे की औधि सु बीतत देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उडाइबें को उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी॥

रस और भाव-समृद्धि तो देव के काव्य में उमड़ी पड़ती है, देव की रसिकता केशव की ही भाँति है, जिसमें वीर, भयानक आदि रस भी शृङ्गार के ही सहायक रस-से हैं। इनकी स्वतन्त्र परिस्थिति का वर्णन न करके नायक-नायिका के प्रसंग में ही इन रसों का वर्णन है जो मज़ाक-सा लगता है। भयानक रस का एक उदाहरण देखिए—

कंचन बेलि सी नौल बधू जमुना जल केलि सहेलिन आनी।
रोमावली नवली कहि देव सु गोरे से गात नहात सुहानी।
कान्ह अचानक बोलि उठे उर बाल के व्याल बधू लपटानी।
धाइ कै धाइ गही ससवाइ दुहूँ कर झारति अंग अपानी॥

यह भयानक रस का वर्णन क्या है, उसकी हँसी है। इसका साधारणीकरण नहीं हो सकता है, यद्यपि आश्रय के लिए विभावानुभाव, संचारी सभी मौजूद

हैं। वास्तव में रीतिकालीन कवियों की प्रमुख दक्षता शृङ्गार-निरूपण में ही है।

सौन्दर्य-वर्णन में देव की कल्पना बड़ी सजग है और अनेक मनमोहक चित्रों को संग्रहीत करने में वह सफल हुई है। एक गर्वस्वभावा स्वकीया के स्वरूप का चित्रण नीचे लिखे छन्द में दर्शनीय है—

गोरे मुख गोरहरे हँसत कपोल बड़े
लोयन बिलोल बोल लोने लीन लाज पर।
लोभा लागे लाल लखि सोभा कवि देव छवि,
गोभा से उठत रूप सोभा के समाज पर।
बादले की सारी दरदावन किनारी
जगमगी जरतारी झीनी झालरि के साज पर।
मोती गुहे कोरन चमक चहुँ ओरन,
ज्यों तोरन तरैयन की तानी दुजराज पर।।

उत्प्रेक्षा का यहाँ सुन्दर चमत्कार है। इसी प्रकार का कल्पना का चमत्कार देव ने अधिकांश दिखलाया है। राधा और उनकी सखियाँ स्फटिक मन्दिर में किस प्रकार की शोभा पा रही हैं, देव की कल्पना में आया इस शोभा का एक दृश्य नीचे लिखे छन्द में अंकित हुआ है—

फटिक सिलान सों सुधारयो सुधा मन्दिर
उदधि दधि की सी अधिकाई उमगै अमन्द।
बाहर ते भीतर लौं भीति न दिखैये देव,
दूध कैसो फेन फैलो आंगन फरस बन्द।
तारा सी तरुनि तामैं ठाढी मिल मिलि होत
मोतिन की माल मिली मल्लिका को मकरंद।
आरसी से अंबर में आभा सी उज्यारी लागे
प्यारी राधिका के प्रतिबिम्ब सो लगत चन्द।।

उपर्युक्त उदाहरणों से देव की प्रतिभा पर प्रकाश पड़ता है। वे एक उत्कृष्ट कोटि के कवि थे, पर उनका काव्य का माध्यम कवित्त-सवैया होने से अनेक शब्द केवल छन्दपूर्ति के हेतु ही आये हैं। सेनापति और बिहारी की-सी चुस्ती देव के छन्दों में नहीं है, पर भाव की विवृत्ति और रूप का विशद चित्रण देव की कविता में खुलकर हुआ है। देव के काव्य का अत्यन्त मर्मस्पर्शी प्रभाव पड़ता है।

रीतिकाव्य के अन्तर्गत घनानन्द, मण्डन, दीवान, पृथ्वीसिंह 'रस-निधि',

आलम, नागरीदास, दास, रसलीन, ठाकुर, पूरबी, कलानिधि, बोधा आदि की रचनाएँ हैं। मण्डन की रचनाएँ उपलब्ध नहीं। इनके रचे ग्रन्थ 'रसरत्नावली', 'रस-विलास', 'जनक-पचीसी', 'जानकी जू का विवाह', 'नैन पचासा' और 'पुरन्दरमाया' हैं। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका जन्म जैतपुर (बुन्देलखण्ड) में सं० १६६० में हुआ था। इनकी कविता के नमूने संग्रहों में या मौखिक रूप में मिलते हैं। इनकी कविता सरस और मधुर है।[1] इनका एक बड़ा प्रसिद्ध छन्द है जो वचन-विदग्धा नायिका का चित्र खींचता है—

> अलि हौं तौ गई जमुनाजल को सु कहा कहौं बीच बिपत्ति परी।
> घहराय के कारी घटा उनई इतने ही मैं गागरि सीस धरी।
> रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो कवि मण्डन ह्वै कै बिहाल गिरी।
> चिरजीवहु नन्द को बारो अरी, गहि बांह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

घनानन्द—यह प्रसिद्ध प्रेमी भक्त और कुशल कवि थे। इनका जन्म सं० १७१६ के लगभग माना जाता है। यह दिल्ली के रहने वाले कायस्थ थे। यह फ़ारसी के विद्वान् और बादशाह के दफ्तर में साधारण नौकरी पर थे, पर पीछे अपनी योग्यता के बल पर यह दिल्लीश्वर मुहम्मदशाह के प्राइवेट सेक्रेटरी हो गए। बाल्यावस्था से ही इन्हें 'रासलीला' देखने का चाव था, जिसके फलस्वरूप इनके हृदय में कृष्ण की प्रेमाभक्ति जाग्रत हुई। कहते हैं कि इनका सुजान नामक वेश्या पर प्रेम था। उसी के कारण यह अपनी नौकरी से निकाले गए। फलस्वरूप इनमें वैराग्य जाग्रत हुआ और वहाँ से यह वृन्दावन आये और निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित होकर कृष्ण-भक्ति की साधना करने लगे। सं० १७९६ (सन् १७३९) में नादिरशाह के मथुरा-आक्रमण के समय यह मारे गए थे।

घनानन्द की गणना प्रेमी भक्तों में होनी चाहिए। उनका ध्यान अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, नायिका-भेद, रस, भाव आदि की ओर नहीं है, फिर भी इनकी रचना में आलंकारिक चमत्कार तथा शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का इतना दक्षतापूर्ण वर्णन है कि रीति-परम्परा का प्रभाव उसमें स्पष्ट लक्षित होता है। सवैया और कवित्त पद्धति को ही इन्होंने प्रमुखतः अपनाया है। भक्तों का प्रमुख माध्यम पद रहा है। पद इन्होंने लिखे हैं, पर उनमें रीति-काव्य का प्रभाव नहीं। कवित्त-सवैयों पर अवश्य प्रभाव है। घनानन्द में रीति-काव्य की दूसरी विशेषता है सजग अभिव्यंजना। सरस-

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', २—४४२।

मधुर ब्रजभाषा में घनानन्द के कवित्त का एक-एक शब्द चुन-चुनकर रखा जान पड़ता है और बड़ा ही मार्मिक प्रभाव डालता है। घनानन्द एक कुशल कवि थे, केवल भक्तिभाव-वश ही कविता इन्होंने नहीं की। यह इनके 'सुजान-सागर' के प्रारम्भ में लिखे एक सवैया से प्रकट होता है—

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन और सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग वियोग की रीति मैं कोबिद भावनाभेद सरूप को ठानै।
चाह के रंग मैं भीज्यो हियो बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रबीन सुछन्द सदा रहे सो घन जी के कवित्त बखानै॥

घनानन्द ने रूप और भाव का चित्रण बिलकुल रीतिकाव्य की पद्धति पर किया है, जो बड़ा ही मार्मिक है और ऐसे चित्रण को हम केवल अलौकिक सौन्दर्य का भक्त-सुलभ चित्रण कहकर टाल नहीं सकते। नायिका के रूप और भाव-सौन्दर्य के चित्रण के समान ही घनानन्द के छन्दों में चित्र आये हैं, यथा—

लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी
लसति ललित लोल चख तिरछानि मैं।
छवि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।
दसन दमक फैलि हिये मोती माल होत
पिय सौं लड़ कि प्रेम पगी बतरानि मैं।
आनन्द की निधि जगमगति छबीली बाल
अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरजानि मैं॥

इसमें प्रेम का भाव, अनुभाव, संचारी आदि के साथ रूप का चित्रण है। इसी प्रकार वियोग का भाव नीचे लिखे छन्द में कितना सजग है—

तब तौ छवि पीवत जीवत है अब सोचनि लोचन जात जरे।
हित पोष के तोषतु प्रान पलै बिललात महा दुख दोष भरे।
घन आनन्द मीत सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत है अब आनि के बीच पहार परे॥

स्मरण की दशा में विषमता का अनुभव यहाँ पर प्रधान है। परन्तु घनानन्द के काव्य में विशेषता इस बात की है कि अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रौढ़, मार्मिक, सहज और प्रभावपूर्ण है। ऐसा जान पड़ता है कि उस भाव की इससे अच्छी अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती, जैसी इनके छन्दों में हुई है।

विरह की दशा को अत्यन्त तीव्रानुभूति कराता हुआ एक उद्दीपन विभाव नीचे लिखे छन्द में वर्णित है—

कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढति री
कूकि कूकि अबही करै जो किन कोरि लै ।
पैंड परे पापी ये कलापी निस द्योस ज्योंही
चातक घातक त्योंही तुहूं कान फोरि लै ।
आनन्द के घन प्रान जीवत सुजान बिना
जानि के अकेली सब घेरौ दल जोरि लै ।
जौ लौं करैं आवन बिनोद बरसावन वे
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै ॥

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि घनानन्द रीति-ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य न रखते हुए भी रीतिकाव्य से अप्रभावित न थे और उनका काव्य सेनापति, देव आदि की भाँति रीति-काव्य की समस्त विशेषताएँ अपनाये हुए है।

दास (भिखारीदास)—दासजी आचार्य और कवि दोनों ही रूपों में उत्कृष्ट हैं। जहाँ पर अपने ग्रन्थों में इन्होंने ध्वनि, अलंकार, रस, नायिका-भेद, छन्द आदि के लक्षण और विवेचन प्रस्तुत किये हैं वहीं इनके उदाहरणों में आई कविता रीतिकाव्य का सुन्दर नमूना है। दासजी अरवर (प्रतापगढ़) ज़िला के ट्योंगा ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास और पितामह का नाम बीरभानु था। इनके पुत्र अवधेश लाल और पौत्र गौरीशंकर थे। इनके बाद इनका वंश आगे नहीं चला। प्रतापगढ़ के राजा पृथ्वीपति सिंह के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय में इन्होंने अपनी रचनाएँ कीं। दासजी का रचनाकाल सन् १७२८ से १७५० ई० (१७८५ से १८०७ वि०) तक माना जाता है।

दासजी का काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट और ललित है। एक-दो छन्दों में खड़ी बोली का पुट भी मिलता है, पर इनकी अधिकांश रचना ब्रजभाषा में है। भाषा पर इनका प्रशंसनीय अधिकार है। शब्द-चमत्कार के साथ-साथ अर्थ-गौरव भी इनकी रचना का प्रधान लक्षण है। दासजी की रचना में अनेक स्थलों पर इनकी सूझ और कल्पना की सराहना करनी पड़ती है। इनकी रचना में उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ भाव का सरल स्वाभाविक रूप में वर्णन भी हुआ है। विरह-वर्णन का एक छन्द देखिए—

नैननि को तरसैये कहाँ लौं कहाँ लौं हियो बिरहागि में तैये।
एक घरी न कहूँ कल पैयै कहाँ लगि प्रानन को कलपैये।
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिन के गृह जैये।
मान घटे ते कहा घटिहै जु पै प्रान पियारे को देखन पैये॥

उपर्युक्त छन्द में विरह की असह्य व्याकुलता का चित्रण किया गया है। दास ने अपने ग्रन्थ 'काव्य-निर्णय' में प्रधानतया ध्वनि का विवेचन किया है। इस प्रसंग में विभिन्न उदाहरण उनके बड़े सुन्दर हैं। रूढ़ लक्षणा का उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है—

फली सकल मन कामना, लूटेउ अगनित चैन।
आज अंचइ हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि' के अन्तर्गत वस्तु से वस्तु व्यंग्य के एक उदाहरण में श्लेष द्वारा क्या चमत्कार उपस्थित किया है—

लाल चुरी तेरे लली लागत निपट मलीन।
हरियारी करि देउँगी हौं तौ हुकुम अधीन॥

वास्तव में यह श्लेषवक्रोक्ति से वस्तु व्यंग्य का उदाहरण है, क्योंकि हरियारी में हरापन और हरि का प्रेम-भाव दोनों ही अर्थ हैं। अतः अलंकार से व्यंग्य का उदाहरण हुआ। दासजी के उदाहरण में आये छन्द रीतिकाव्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं। एक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का सुन्दर उदाहरण नीचे के छन्द में देखने को मिलेगा, जिसमें शब्द-शक्ति से संयोग शृङ्गार व्यंग्य है—

जाति हौ जौं गोकुल गोपाल हू पै जैयो नेकु आपनी,
जो चेरी मोहि जानती तू सही है।
पाय परि आपु ही सों बूझियो कुसल छेम मो पै,
निज ओर ते न जाति कछु कही है।
दास जू बसन्त हू के आगमन आयो जो न तिनसों,
संदेसन की बात कहा रही है।
एतो सखी कीबी यह अंब बौर दीबी अरु कहिबी,
वा अमरैया राम राम कही है॥

इसी प्रकार दासजी के अलंकार के उदाहरण रूप में आये छन्द भी बड़े चित्ताकर्षक हैं। उन्होंने विभिन्न अलंकारों के भेद-प्रभेद विस्तार से दिये हैं। उनके उदाहरण कवित्वपूर्ण और स्पष्ट हैं। आर्थी उपमा के प्रसंग में इन्होंने बहु धर्ममयी पूर्णोपमा का एक उदाहरण यह दिया है—

कढि कै निसंक पैठि जाति झुंड झुंडन में,
लोगन को देखि दास आनन्द पगति है।
दौरि-दौरि जाहि ताहि लाल करि डारति है,
अंग लाग कंठ लगिबे को उमगति है।

चमक झमकवारी ठमक जमकवारी,
दमक तमकवारी जाहिर जगति है।
राम असि रावरे की रन में नरन में,
निलज्ज बनिता सी होरी खेलन लगति है ॥

इस प्रकार भिखारीदास जी के काव्य में प्रौढ़ प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इनके अनेक छन्द रीतिकाव्य के उत्कृष्ट रूप को व्यक्त करते हैं।

आलम, पूरबी, रसनिधि, नागरीदास, बोधा आदि के काव्य में रीति-काव्य का प्रभाव परिलक्षित होता है और यों तो असंख्य लेखकों ने इस पद्धति पर अपने काव्य लिखे हैं जिनके नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं, पर प्रतिनिधि कवियों का विवेचन ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है। आलम पर प्रमुख प्रभाव सूफ़ीमत का है और ठाकुर तथा बोधा प्रेममार्ग के स्वच्छन्द कवि हैं। 'रसनिधि' (दीवान पृथ्वीसिंह) और नागरीदास का काव्य प्रधान तथा भक्ति-भावना से युक्त है। कविता करते समय इनकी दृष्टि में लक्षण विद्यमान नहीं हैं और न इनकी रचनाएँ ही उस सांचे में ढली हैं।

रसलीन—दासजी के समकालीन रीतिकाव्य की रचना करने वाले कवियों में सैयद गुलाम नबी बिलगरामी उपनाम 'रसलीन' को भुलाया नहीं जा सकता। यह ज़िला हरदोई के बिलग्राम नगर में रहने वाले थे। यह अरबी-फ़ारसी के विद्वान् और भाषा-काव्य में निपुण थे। इनके लिखे दो ग्रन्थ मिले हैं—'अंग दर्पण' और 'रस प्रबोध'। 'अंग दर्पण' की रचना सन् १७३७ (१७९४ वि०) में हुई थी, जिसमें १७७ दोहों में नखशिख-वर्णन है तथा 'रस प्रबोध' में रस, भाव-वर्णन विस्तार से हुआ है। उद्दीपन के अन्तर्गत बारहमासा भी हैं। रसलीन का काव्य बड़ा ही चुटीला है और उक्ति-चमत्कार और सूझ के कारण इनके दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अंगों के चित्रण करने वाले कुछ दोहे निम्नांकित हैं—

कत देखाय कामिनि दई, दामिनि को यह बाँह।
थरथराति सी तन फिरै, फरफराति घन माँह ॥
अमिय हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इकबार ॥
कुमति चंद प्रति द्यौस बढ़ि, मास मास कढि आय।
तब सुख मधुराई लखे फीको परि छुटि जाय ॥
रमनी मन पावत नहीं, लाज प्रीति को अन्त।
दुहं ओर ऐंचो रहै जिमि बिबि तिय को कन्त ॥

रसलीन के काव्य का चमत्कार नीचे लिखे एक श्लेषपूर्ण सोरठे से व्यक्त हो जायगा—

पीतम चले कमान मोको गोसा सौंपिकै।
मन करिहौं कुरबान एक तीर जब पाइहौं॥

बेनी प्रवीन—१९वीं सदी ईसवी के प्रारम्भ में लखनऊ-निवासी बेनी प्रवीन की रचनाएँ रीतिकाव्य का सुन्दर उदाहरण हैं। इनका समय मिश्र-बन्धुओं ने[1] सन् १७६६ से १८१८ ई० (१८२६-१८७५ वि०) तक माना है। यह कान्यकुब्ज बाजपेयी थे और इन्होंने लखनऊ के नवाब गाजीउद्दीन हैदर के दीवान-पुत्र 'नवल कृष्ण' के लिए सन् १८१७ में 'नवरस तरंग' नामक ग्रन्थ बनाया। इनके ग्रन्थ 'श्रृङ्गार भूषण', 'नानाराव प्रकाश' भी हैं, पर 'नवरस तरंग' अत्यन्त प्रसिद्ध है। अन्तिम अवस्था में यह अर्बुदगिरि (आबू) चले गए। वहीं इनका शरीरपात हुआ था।

बेनी की रचना मतिराम और पद्माकर के टक्कर की है और 'नवरस-तरंग' में शास्त्रीयता न होकर काव्य ही है। भाषा टकसाली व्रजभाषा है और ग्रन्थ में ललित और सुन्दर भावाभिव्यक्ति है। व्यंग्य द्वारा अभिव्यक्त भाव बड़े सुन्दर हैं। इनका एक प्रसिद्ध छन्द है। 'अज्ञातयौवना' का चित्र इसमें अंकित किया गया है—

कालि ही गूंथि बबा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ ते इहां पुखराज की संग गई जमुना तट बाला।
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन हंसे सुनि बैनन नैन रसाला।
जानति ना अंग की बदली सबसों बदली-बदली कहै माला॥

इस प्रकार के यौवन-विलास एवं श्रृङ्गार के मोहक चित्रों से 'नवरस तरंग' भरपूर है। भाव-वर्णन के समान ही आलंकारिक सौन्दर्य भी इनके काव्य में देखने को मिलता है। नीचे लिखा छन्द इसका साक्षी है—

मानव बनाये देव दानव बनाये यच्छ किन्नर बनाये पशु पच्छी नाग कारे हैं।
दुरद बनाये लघु दीरघ बनाये केते सागर उजागर बनाये नदी नारे हैं।
रचना सकल लोक लोकन बनाये ऐसी जुगति मैं बेनी परबीनन के प्यारे हैं।
राधे को बनाय बिधि धोयो हाथ जाम्यो रंग ताको भयो चन्द कर झारे तारे हैं॥

उपर्युक्त छन्द में हेतु की कल्पना कितनी चमत्कारपूर्ण है।

पद्माकर—रीतिकाव्य के अन्तिम प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में पद्माकर का नाम अग्रगण्य है। इनके ग्रन्थ 'जगद्विनोद' तथा फुटकल छन्दों में रीति

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग २, पृष्ठ ८३६।

काव्य की प्रवृत्तियों का सुन्दर परिचय मिलता है। पद्माकर में भावविवृत्ति की विलक्षण शक्ति है और उसके विविध चित्रों के दर्शन हमें इनके काव्य में मिलते हैं। वैसे इन्होंने 'हिम्मत बहादुर विरदावली' में वीरभाव का और 'गंगा-लहरी' में भक्ति-भावना का चित्रण कर यह स्पष्ट कर दिया है कि इनकी प्रतिभा केवल श्रृङ्गार में ही सीमित नहीं है। 'जगद्विनोद' के रस-वर्णन के प्रसंगों में भी इनके वीर, भयानक, हास्य, बीभत्स आदि के चित्रण प्रभावपूर्ण हैं। हास्य रस का एक प्रसिद्ध छन्द है—

हंसि-हंसि भाजैं देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनी जे आवैं हिमाचल के उछाह में।
कहै पदमाकर सु काहू सों कहै को कहा,
जोई जहाँ देखै सो हंसेई तहाँ राह में।
मगन भयेऊ हंसे नगन महेस ठाढ़े,
औरै हंसे येह हंसि-हंसि के उमाह में।
सीस पर गंगा हंसै भुजनि भुजंगा हंसै,
हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में॥

यहाँ 'हास' शब्द वाचक होने से प्रभाव अधिक नहीं पड़ता, फिर भी रीतिकाव्य के हास्य के उदाहरणों में यह अच्छा है। पद्माकर ने विभिन्न ऋतुओं के अनुकूल दृश्यावली का वर्णन भी किया है जो उद्दीपन का कार्य करती है। सावन के हिंडोले का एक चित्र नीचे के छन्द में है :—

भौंरन को गुंजन बिहार बन कुंजन में,
मंजुल मलारन को गावनो लगत है।
कहै पदमाकर गुमान हू ते मान हू ते,
प्रान हू ते प्यारो मनभावनो लगत है।
मोरन को सोर घनघोर चहुं ओरन,
हिंडोरन को वृन्द छवि छावनो लगत है।
नेह सरसावन में मेंह बरसावन में,
सावन में झूलिबो सुहावन लगत है॥

पद्माकर के अधिकांश चित्र आनन्द-उल्लास के हैं। उनके द्वारा चित्रित ब्रज-मण्डल के फाग के दृश्य वासन्ती मस्ती का चित्रण करने वाले हैं। इन चित्रणों में जहाँ ऋतु-उद्दीपन है, वहीं पर भाव, रूप एवं चेष्टा-सौन्दर्य भी अत्यन्त मार्मिक ढंग से व्यक्त हुआ है। 'नैन नचाय कही मुसुक्याइ लला फिर आइयो खेलन होरी' वाली पंक्ति तो इनकी अत्यन्त प्रसिद्ध है। नीचे लिखे छन्दमें

होली खेलने के उपरान्त का एक आकर्षक चित्र है—

आई खेलि होरी घेरे नवल किसोरी कहूं
बोरी गई रंग में सुगन्धनि झकोरै है।
कहै पदमाकर इकंत चलि चौकी चढ़ि
हारन के बारन ते फन्द बन्द छोरै है।
घांघरे की घूमनि सु ऊरुन दुबीचे दाबि
आंगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दन्तन अधर दाबि दूनरि भई सी चाबि,
चौवर पचौवर के चूनरि निचोरै है॥

यह एकान्त का क्रिया-व्यापार एवं चेष्टा-सौन्दर्य का रूप भी पद्माकर की आँखों से न बच सका। भाव और चेष्टाओं के ऐसे लुभावने चित्रणों के पद्माकर धनी हैं। संचारी भावों में आवेग का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है—

आई संग ग्वालिन के ननद पठाई नीठि,
सोहति सोहाई सीस ईंगुरी सुपट की।
कहै पद्माकर गम्भीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अंटकी।
ताही समै मोहन सु बांसुरी बजाई,
तामें मधुर मलार गाई और बंसी बट की।
तान लगे लट की रही न सुधि घूंघट की,
घाट की न औघट की बाट की न घट की॥

पद्माकर के इन चित्रों के प्रभाव के साथ-साथ अनुप्रास-बाहुल्य की भी एक विशेषता है। एक वज़न के एक ही वर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्द पद्माकर के काव्य में खूब मिलते हैं। कहीं-कहीं तो इन्होंने अनुप्रासिक शब्द-विशेषता के पीछे अर्थ को ही पीछे छोड़ दिया है। इनके ऋतु-वर्णन में इस प्रकार का शब्द-चमत्कार विशेषतया दर्शनीय है। पद्माकर ने इस गुण में देव और सेनापति के मार्ग का अनुसरण किया है, पर उनका-सा अर्थ-गौरव पद्माकर के ऐसे काव्य में नहीं आ पाया।

ग्वाल—ग्वाल भी पद्माकर की ही परिपाटी पर हैं। इनके रचे तेरह ग्रन्थ खोज-रिपोर्टों द्वारा ज्ञात हुए हैं, जिनमें कुछ तो भक्ति-सम्बन्धी और शेष अलंकार, रस, नायिकाभेद पर हैं। इनका 'कृष्णजी का नखशिख' प्रसिद्ध है, पर उसमें बलभद्र मिश्र के 'नखशिख' की भाँति उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, सन्देह आदि अलंकारों की भरमार में स्वाभाविक अंग-सौन्दर्य प्रकट नहीं हो पाया।

कृष्ण के नखशिख-वर्णन से एक दसन-सौन्दर्य-वर्णन का छन्द नीचे दिया जाता है—

कैधों पके दाड़िम के बीज परिपूरन है
परम पवित्र प्रभा पुंज लमकत हैं।
कैधों भूमिसुत के अनेक तारे तेजवारे
बांधि के कतारे झलामल झमकत हैं।
ग्वाल कवि कैधों पंचबान जौहरी की जोर
ललित ललाई लिये मणि चमकत हैं।
कैधों वृषभान की लड़ैती प्रान पीतम के
पान पीक पागे ये दसन दमकत हैं।।

ग्वाल की रचना में कल्पना का पुट विशेष है। इनकी भाषा अधिक प्रांजल न होकर बाज़ारूपन लिये है, फिर भी इनके वर्णन सुन्दर हैं। शरद्‌ऋतु की चन्द्रिका का एक वर्णन है—

मोरन के सोरन की नैको न मरोर रही
घोर हूं रही न घन घने या फरद की।
अंबर अमल सर सरिता बिमल मल
पंक को न अंक औ न उड़न गरद की।
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भये
पन्थिन की दूरि भई दूषन दरद की।
जल पर थल पर महल अचल पर चांदी
सी चमकि रही चांदनी सरद की।।

इसमें सन्देह नहीं कि ग्वाल की रचना में रीतिकाव्य की समस्त विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। भाषा-चमत्कार, शृङ्गार, अलंकार, नायिका-भेद, सबके उदाहरण इनके काव्य में हैं। इनका रचनाकाल सं० १८७९ से १९१८ तक माना जाता है। अतः यह रीतिकाल के अन्तिम कवियों में हैं।

रीतिकाव्य की प्रवृत्तियाँ

रीतिकाव्य के प्रमुख कवियों का परिचय दिया गया है। मध्ययुगीन रीति-काव्य का विश्लेषण करने पर हमें इन प्रमुख प्रवृत्तियों का पता चलता है। पहली प्रवृत्ति तो यह है कि इस समय का अधिकांश काव्य राजाश्रय में लिखा गया, जिससे जहाँ एक ओर कवि-प्रतिभा का निखार और कला को संरक्षण मिला, वहीं दूसरी ओर झूठी प्रशंसापूर्ण तथा शृङ्गार और विलास का खुल-

कर चित्रण भी हुआ है। इन गुणों और दोषों में कोई भी नगण्य नहीं है। दूसरी प्रवृत्ति अलंकृत काव्य लिखने की है जो प्रथम प्रवृत्ति का परिणाम है। आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए उक्ति-चमत्कार एवं शब्दों की बाजीगरी भी खूब प्रदर्शित की गई है। दूसरे शब्दों में, वह अलंकार-प्रधान काव्य है। कवि अपने काव्य को सजाने और सँवारने में पूर्णतः सचेत है और अधिकांश में कवि का अलंकार-प्रयोग सहज नहीं। तीसरी प्रवृत्ति है शृङ्गार की, जिसके अन्तर्गत काम-वासना और नारी-सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। कामशास्त्र के ग्रन्थों की अनेक बातें नायिका-भेद और संयोग-शृङ्गार-वर्णन में संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों द्वारा ही सम्मिलित कर ली गई थीं, अतः उनका उल्लेख भी इन ग्रन्थों में हुआ है जोकि काव्य के अन्तर्गत कहीं-कहीं अत्यन्त सफल रूप में व्यंजित हुआ है। कहीं-कहीं काम-सम्बन्धी यह पक्ष काव्य-सौन्दर्य के उज्ज्वल रूप में कालिमा लगाता है और काव्य इस पक्ष को केवल सीमित और एकान्त-पाठ के ही उपयुक्त बना देता है। चौथी प्रवृत्ति भक्ति-भावना की है। चाहे मंगलाचरण के रूप में अथवा मध्य काव्य के भीतर, कहीं-न-कहीं भक्ति-भावना अवश्य आ जाती है। इस युग में भक्त कवि अनेक हुए, सो तो हुए ही। विशुद्ध शृङ्गारी-काव्य लिखने वाले देव, बिहारी, दास, पद्माकर आदि के भी भक्ति-सम्बन्धी छन्द महत्त्व के हैं। दास की यह पंक्ति "आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है" रीतिकाव्य के अधिकांश के लिए खरी उतरती है।

सौन्दर्य-चित्रण और आलंकारिक रचना करने वाले कवियों का लोकज्ञान और काव्य-साधना सराहनीय है। ऊपर लिखी प्रवृत्तियाँ रीतिकाव्य की हैं, जो प्रधान हैं। परन्तु इस समय के समस्त काव्य का अवलोकन करने से हमें भक्ति-भावना, वीर-भावना, नीति-उपदेश, लोक-ज्ञान, व्यवहार आदि पर प्रचुर मात्रा में काव्य-रचना मिलती है, जिसका विवेचन प्रस्तुत विषय के क्षेत्र से बाहर है।

इस समस्त रीति-काव्य को यदि हम लक्षण-उदाहरण काव्य के रूप में न देखकर व्यापक दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं कि इस युग के इन कवियों का जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण न होकर ऐहिकता-प्रधान दृष्टिकोण है; अतः यथार्थवादी चित्रण खूब मिलते हैं। अलंकार-वर्णन एवं शृङ्गार, नायिका-भेद के अन्तर्गत यथार्थ रूप में मनोविश्लेषण, विविध अवस्थाओं के स्वभाव और प्रवृत्तियों के चित्रण, अभिलाषा, खीझ, रोष, ईर्ष्या,

उत्कण्ठा और मनोविकारों के बड़ी सुघराई के साथ वर्णन मिलते हैं। एक ही व्यक्ति अपने रूप और यौवन के प्रभाव से विभिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मनोभाव जाग्रत करता है, इसका चित्रण मतिराम के एक दोहे में देखिए—

जानति सौति अनीति है जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति॥

चढ़ते यौवन की नारी का रूप और व्यवहार एक साथ सौति के लिए अनीति, सखी के लिए सुनीति, गुरुजनों के प्रति लाज और प्रिय के लिए प्रीति का रूप धारण करता है। इसी प्रकार आन्तरिक भाव का एक बड़े ही सुकुमार इंगित और चेष्टा द्वारा प्रकाशन पद्माकर के एक छन्द में सराहनीय है—

गो गृहकाज गुवालन के कहे देखिबे को कहूँ दूरि के खेरो।
मांगि बिदा लई मोहिनी सों पद्माकर मोहन होत सबेरो।
फैंट गही न गही बहियाँ न गरो गहिं गोबिन्द गौन ते फेरो।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गोपाल की गैल में गेरो॥

मार्ग रोकने के लिए और कुछ न करके गुलाब के फूलों का गजरा राह में फेंक देना, प्रेम-भावना का अत्यन्त कोमल प्रकाशन है। इस मूक क्रिया का मुखर व्यंग्य यह है कि हमारी सुकुमार-भावना को कुचलकर जाना हो तो जाओ। कितना ललित मधुर चित्रण है, पर कितना सहज और सजीव। इसी से मिलता-जुलता सहज जीवन का एक अधिक उच्छृङ्खल चित्रण नीचे के छन्द में हुआ है—

फाग की भीर अहीरन में गहि गोबिन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कंबर ते सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कही मुसुकाइ लला फिर आइयो खेलन होरी।

वास्तविक जीवन के ये कितने सजीव चित्र हैं। अपने व्यावहारिक और सामाजिक जीवन में हम इस प्रकार के चित्र बराबर देखते हैं।

वियोग की दशा के भी मनोभावों के सफल चित्रण इस काव्य में मिलते हैं। स्वप्न में भी मिलन इस अवस्था में सुखकर होता है। परन्तु जितना सुखकर स्वाप्निक सुख होता है उतना ही स्वप्न टूटने पर दुःख का अनुभव तीव्र भी। इसी मनोदशा का चित्रण नीचे लिखे छन्द में हुआ है—

झहरि झहरि झीनी बूंद हैं परति मानों
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं।

आनि कह्यौ श्याम मोसों चलौ झूलिबे के काज,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं ॥
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद
सोइ गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं ।
आंखि खोलि देखौं तौ न घन है न घनश्याम
वेई छायी बूँदें मेरे आँसू ह्वै दृगन मैं ॥

ऐसे ही न जाने कितने सहज, स्वाभाविक मनोभावों का चित्रण रीति-काव्य में मिलता है, जो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जीवन का यथार्थ अनुभव इन कवियों को था। ये चित्रण इतने लुभावने और मनोग्राही हैं कि दृष्टि और अनुभूति में उलझ जाते हैं और इन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

सामाजिक दृष्टि से भी इनका महत्त्व है। जीवन का यह क्रम है कि जितना ही बन्धन और प्रतिबन्ध होगा, उतनी तीव्रता के साथ उसका विस्फोट होता है। समाज के तत्कालीन जीवन में प्रिय के साथ सम्पर्क का अधिक अवसर प्राप्त न था, अतः उस सम्पर्क के अवसर पाने की ललक अनेक छन्दों में अभिव्यञ्जित मिलती है। अपना घर जलने पर भी किसे प्रसन्नता होगी, परन्तु पारिवारिक मर्यादा के बन्धन में पड़ी युवती इस पर भी हर्ष का भाव प्रकट करती है, क्योंकि आग लगने पर प्रिय के साथ काम करने का उसे अवसर मिलता है—

आगि लागि घर जरिगा बड़ सुख कीह ।
प्रिय के हाथ घयलवा भरि-भरि दीह ॥

इसी प्रकार की अभिलाषा देखिए—

लैकै सुघर खुरुपिया प्रिय के साथ ।
जैबै घन अमरैया सुअना हाथ ॥

बिहारी के एक अत्यन्त प्रसिद्ध दोहे में भी इसी प्रकार का चित्रण है—

बतरस लालच लाल के, मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै भौंहन हंसै, देन कहै नटि जाय ॥

रीति-काव्यकारों की काव्य-साधना प्रशंसनीय है। रूप-सौन्दर्य को दो-एक शब्दों और पंक्तियों में उभार देना, रीति-कवियों की विशेषता है। उस युग के अनेक रूप-चित्र आज चाहे सुन्दर न हों, पर रूप के प्रभाव का विश्लेषण आज भी मार्मिक है। जैसा हम पहले कह आए हैं, रूप-चित्रण की रेखाएँ प्रायः नख-शिख-सौन्दर्य की परम्परागत पद्धति में ही निखरी हैं, परन्तु

अन्य वर्णनों के बीच सहज रूप में उल्लसित होकर जो चित्र झलक उठे हैं उनमें एक अद्भुत मिठास है। मतिराम का एक रूप-चित्रण है—

कुन्दन को रंग फीको लगै झलकै असि अंगन चारु गोराई।
आंखिन मैं अलसानि चितौनि मैं मञ्जु विलासनि की सरसाई।
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लखे अंखियान लुनाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये नीरे ह्वै नैनानि त्यों-त्यों खरी निकसै ह्वै निकाई॥

प्रसाधन और बनाव-शृङ्गार को नखशिख-चित्रण के अन्तर्गत आभूषणादि वर्णन में महत्त्व दिया गया है। बिहारी ने प्रायः अलंकारहीन सहज सौन्दर्य की विशेषता प्रकट की है, पर मतिराम तथा अन्य कवियों ने विभिन्न आभूषणों के सौन्दर्य का वर्णन किया है। इस दोहे में इसका संकेत देखिए—

परचि परै नहिं अरुन रंग अमल अधर दल मांझ।
कैधों फूली दुपहरी कैधों फूली सांझ॥

इस प्रकार रूप और शृङ्गार का बड़ा मोहक चित्रण इस काव्य में मिलता है।

रीति-काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता कवियों की शब्द-साधना में प्रस्फुटित हुई है। शब्द को खोजना, उसका शोधकर, माँजकर प्रयोग करना, उसके भीतर नाद-सौन्दर्य, अर्थ-चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य भरना, यह सब रीति-कवियों की सामान्य विशेषता है। ये कवि भाषा की ओर विशेष सचेत और जागरूक हैं। वर्ण-मैत्री, शब्द-मैत्री, वृत्ति, गुण के समावेश द्वारा उक्ति-वैचित्र्य और सहज-स्मरणीयता का गुण अपने काव्य में भर देने में ही इन कवियों की सफलता, कुशलता और प्रभाव है। भूषण, मतिराम, बिहारी, देव, घनानन्द, दास, पद्माकर, ग्वाल आदि की शब्द-साधना सराहनीय है। इनके काव्य को देखने से पता चलता है कि ये शब्द-सिद्ध कवि हैं। इनके एक-एक शब्द में मणि-माणिक्य के समान चमक और आभा है। एकाध शब्द तो ऐसे चमकते हुए हैं कि उनके प्रकाश से आस-पास के शब्दों में चमक आ जाती है और इस प्रकार सारी पंक्ति और पूरा छन्द जगमगा उठता है। कुछ उदाहरण इस कथन को स्वतः स्पष्ट कर देंगे—

अंग-अंग नग जगमगति दीप सिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहे बड़ो उजेरो गेह॥
... ...
अंग-अंग छवि झौंर मैं भयो भौंर की नाव॥
... ...
बड़बोली क्यों होत अलि बड़े दृगन के जोर॥ (बिहारी)

... ...

वा छबि की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अंखियान लुनाई।

... ...

ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै ॥(मतिराम)

... ...

सोवरे लाल को सांवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो।

... ...

कंजन कलिनमई कुंजन अलिनमई गोकुल की गलिनमई कै गई।

(देव) आदि।

इस प्रकार जीवन के वास्तविक आकर्षण, यौवन और रूप के सौन्दर्य के चित्रण द्वारा रीति-काव्य के अन्तर्गत स्वाभाविक कला का मर्मस्पर्शी विकास हुआ है। इसमें आये सौन्दर्य-चित्रण का मूल्य युग-युग में रहेगा। इस काव्य के कलाकारों की साधना से निखरे शब्द आज भी सजीव हैं और अपनी सहज आभा से हमें मुग्ध कर लेते हैं। कला की दृष्टि से रीति-काव्य का स्थान उत्कृष्ट है।

इनकी कला और प्रतिभा को समुचित रूप से हृदयंगम कराने के निमित्त आगे के खण्ड में चुने हुए कवियों की रचनाओं से चुना हुआ संग्रह भी दिया गया है, जो पूर्वगामी विवेचन और व्याख्या का उदाहरण-रूप है।

हिन्दी रीति-काव्य-संग्रह

१—रहीम

बरवै नायिका-भेद

लहरत लहर लहरिया, लहर बहार।
मोतिन जरी किनरिया, बिथुरे बार ॥ १ ॥
भोरहिं होत कोइलिया, बढ़वति ताप।
घरी एक भरि अलिया रहु चुपचाप ॥ २ ॥
बाहर लैकै दियवा, बारन जाय।
सासु ननद ढिग पहुँचत, देति बुझाय ॥ ३ ॥
होइ कत आय बदरिया, बरखहिं पाथ।
जैहौं घन अमरैया, सुगना साथ ॥ ४ ॥
जस मदमातल हथिया, हुमकत जाति।
चितवत जाति तरुनियाँ, मन मुसुकाति ॥ ५ ॥
खीन मलिन विषभैया, औगुन तीन।
मोंहि कहत बिधुबदनी, पिय मतिहीन ॥ ६ ॥
तैं अब जासि बेइलिया, बरु जरि मूल।
बिन पिय सूल करेजवा, लखि तव फूल ॥ ७ ॥
कासों कहौं सँदेसवा, पिय परदेस।
लगेउ चइत नहिं फूले, तेहि बन टेसु ॥ ८ ॥
बन घन फूलहिं टेसुवा, बगियन बेलि।
चले बिदेस पियरवा, फगुवा खेलि ॥ ९ ॥
पीतम इक सुमिरिनियाँ, मोंहि देइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा, करब निबाहु ॥ १० ॥
लैकै सुघर खुरुपिया, पिउ के साथ।
छइबे एक छतरिया, बरसत पाथ ॥ ११ ॥
सघन कुञ्ज अमरैया, सीतल छाँह।
झगरत आइ कोइलिया, पुनि उड़ि जाहु ॥ १२ ॥

सखियन कीन्ह सिंगरवा, रचि बहु भाँति।
हेरति नैन अरसिया, मुरि मुसकाति ।। १३ ।।
टूटि खाट घर टपकत, टटियौ टूटि।
पिय कै बाँह उसिसवा, सुख कै लूटि ।। १४ ।।
ढील ओोलि जल अचवन, तरुनि सुगानि।
धरि खसकाइ घइलवा, मुरि मुसकानि ।। १५ ।।
बालम अस मन मिलयेउँ, जस पय पानि।
हंसिनि भई सवतिया, लइ बिलगानि ।। १६ ।।
पथिक आइ पनघटवा, कहत पियाव।
पैंयाँ परुउँ ननदिया, फेरि कहाव ।। १७ ।।
चूनत फूल गुलबवा, डार कटील।
टुटिगो बन्द अँगियवा, फटि पट नील ।। १८ ।।
सुभग बिछाय पलँगिया, अंग सिंगार।
चितवत चौंकि तरुनिया, दै दृग द्वार ।। १९ ।।
पिय आवत अँगनैया, उठि कै लीन।
साथै चतुर तिरियवा, बैठक दीन ।। २० ।।

२—केशवदास

कविप्रिया

तोरि तनी टकटोरी कपोलनि,
जोरि रहे कर त्यों न रहौंगी।
पान खवाइ सुधाधर प्याइ कै,
पाइ गह्यो तस हौं न गहौंगी।
केशव चूक सबै सहिहौं मुख,
चूमि चले यहु पै न सहौंगी।
कै मुख चूमन दे फिरि मोहि कै,
आपनी धाइ सों जाइ कहौंगी ।।१।।
प्रथम सकल शुचि मज्जन अमल बास,
जावक सुदेश केशपास को सुधारियो।
अंगराग भूषण विविध मुख बास राग,
कज्जल कलित लोल लोचन निहारियो।

बोलनि हँसनि मृदु चातुरी चलनि चारु,
पल-पल प्रति पतिव्रत पथ पारियो।
केशवदास सविलास करहु कुँवरि राधे,
यहि विधि सोरहों सिंगारनि सिंगारियो ॥२॥
बानी ज्यों गँभीर मेघ सुनत सखा सिखीन
सुख अरि उरनि जवासे ज्यों जरत हैं।
जाके भुजदण्ड भुवलोक की अभय भुजा
देखि-देखि दुज्जन भुजंग ज्यों डरत हैं।
तोरिबे को गन उर होत हैं सिला समान
राखिबे को द्वारनि कपाट ज्यों अरत हैं।
भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत जीवै जुग-जुग
जाके राज केसोदास राज सो करत हैं ॥३॥
मंगली ही जु करी रजनी विधि,
याही ते मंगली नाम धर्यो है।
दूसरे दामिनी देह सँवारि,
उड़ाइ दई घन जाइ वर्यो है।
रोचन को रचि केतकी चम्पक,
फूलनि में अंग वासु भर्यो है।
गौरि गोराई को मैल मिलै करि,
हाटक लै कर हाट कर्यो है ॥४॥
फूले पलाश विलास थली कहि,
केसवदास प्रकास न थोरे।
शेष अशेष मुखानल की जनु,
ज्वाल विसाल चली दिवि बोरे।
किंशुक श्री सुकतुण्डनि की रुचि,
राचै रसातल[1] मैं चित चोरे।
चंचुनि चापि चहूँ दिसि डोलत,
चारु चकोर अँगारनि भोरे ॥५॥
मणिमय आलबाल थलज जलज रवि,
मण्डल में जैसे मोहे अति कवितान की।

---

१. पृथ्वी।

जैसे सविशेष परवेष में अशेष रेख,
सोभित सुवेष सोम सीवां सुखदानि की।
जैसे बंक लोचन कलित कर कंकरणनि,
वलित ललित द्युति प्रगट प्रभानि की।
केसौदास तैसे राजै रास में रसिकराइ,
आसपास मण्डली विराजै गोपिकान की ॥६॥
पहिले तजि आरस आरस[1] देखि,
घरीक घसे घनसारहि लै।
पुनि पोंछि गुलाब तिलोछि कुलेल,
अँगौछनि आछे अँगोछनि कै।
कहि केशव मेद जवादि सों मांजि,
इते पर आंजे में अंजन दै।
बहुर्यो दुरि देखौं तौ देखौं कहा सखि,
लाज तौ लोचन लागिअहै ॥७॥
मैन ऐसे मन मृदु मृदुल मृणालिका के सूत,
ऐसी सुरधुनि मनहिं हरति हैं।
दार्यों कैसो बीज दांत पात से अरुण ओंठ,
देखि केशवदास दृग आनन्द भरति हैं।
ये री मेरी तेरी मोंहि भावत भलाई ताते,
बूझति हौं तोंहि और बूझति डरति हैं।
माखनि सी जीभ मुख कंज सो कोंवर कहि,
काठ सी कठेठी बातें कैसे निकरति हैं ॥८॥
कोमल विमल मन विमला सी सखी साथ,
कमल ज्यों लीन्हें हाथ कमला सनाल को।
नूपुर की धुनि सुनि भोर कलहँस ही के,
चौंकि चौंकि उठे चारु चेटुवा मराल को।
कचनि के भार कुचभारनि सकुच भार,
लचकि लचकि जात कटि तट बाल को।
हरे हरे बोलति बिलोकति हँसति हरे,
हरे हरे चलति हरति मन लाल को ॥९॥

---

१. दर्पण।

अनठिक ही को ठठा जाने ना कुठौर ठौर,
ताही पै ठगावै ठेलि जाही को ठकतु है।
याको तौ डरनि डरि डगनि डगनि डरि,
डरि कै डरनि डगै डौंड़ी ज्यों डगतु है।
ऐसो बसो बास ते उदास होहि केशवदास,
काहे ना भजतु कहि काहे को भजतु है।
झूँठो है रे झूँठो जग राम की दोहाई काहू,
साँचे को कियो है ताते साँचो सो लगतु है ॥१०॥
कारे कारे तम कैसे पीतम सुधारे विधि,
वारि वारि डारे गिरि थान सुत नाषे हैं।
घण्टा ठननात घननात घने घूघुरनि भौर,
भननात भुवपाल अभिलाषे हैं।
थोरे थोरे मदन कपोल अति थूले थूले,
डोलैं चलदल बल विक्रम सुभाषे हैं।
दारिद दुवन दीह दलनि विदारिबे को,
इंद्रजीत हाथी यों हथ्यार करि राषे हैं ॥११॥
चौहूँ भाग बाग वन मानहुँ सघन घन,
शोभा की सी शाला हंसमाला सी सरितवर।
ऊँची ऊँची अटनि पताका अति ऊँची ऊँची,
कौशिक की कीन्हीं गंग खेलै खे तरलतर।
आपने सुखन आगे निन्दत नरिन्दनि को,
घर घर देखियत देवता सी नारि नर।
केशवदास आस जहाँ केवल अदृष्ट ही की,
वारिये नगर और ओड़छे नगर पर ॥१२॥
एक दमयन्ती ऐसी हरै हंस वंश एक,
हंसिनी सी विषहार हिये मांझ सोहिये।
भूषण गिरत एक लेति बूड़ि बीच बीच,
मीनगति लीन हीन उपमा न टोहिये।
एक हरि कण्ठ लागि लागि बूड़ि बूड़ि जात,
जलदेवता सी दृग देवता विमोहिये।
केशवदास आसपास भ्रमत भ्रमर जल,
केलि में जलजमुखी जलज सी सोहिये ॥१३॥

मेह के हूँ सखि आँसू उसासनि साथ निशा सुविसासनि बाढ़ी।
हास गयो उड़ि हंसनि ज्यों चपला सम नींद गई गति काढ़ी।
चातक ज्यों पिव पीव रटै चढ़ि ताप तरंगनि ज्यों गति गाढ़ी।
केशव वाकी दशा सुनिहौं अब आगि बिना अँग अँगनि डाढ़ी ।।१४।।

गोरो गात पातरी न लोचन समात मुख,
उर उरजातन की बात अवरोहिये।
हँसति कहति बात फूल से झरत जात,
ओठ अवदात राती रेख मन मोहिये।
श्यामल कपूर धूरि की ओढ़नी ओढ़े उड़ि,
धूरि ऐसी लागी केसौ उपमा न टोहिये।
काम ही की दुलही सी काके कुल उलही,
सु लहलही ललित लता सी लाल सोहिये ।।१५।।

जा दिन ते वृषभानु लली ही अली मिलये मुरलीधर ते ही।
साधन साधि अगाधि सबै बुधि शोधि जे दूत अभूतन में ही।
ता दिन ते दिनमान दुहूँन की केशव आवति बात कहे ही।
पीछे अकास प्रकासै ससी चढ़ि प्रेम समुद्र बढ़ै पहिले ही ।।१६।।

फूली लतिका ललित तरुणतन फूले तरवर।
फूली सरिता सुभग सरस फूले सब सरवर।
फूली कामिनि कामरूप करि कंतनि पूजहिं।
शुक सारी कुल केलि फूल कोकिल कल कूजहिं।।
कहि केशव ऐसी फूल महि शूल न फूल लगाइये।
पिय आप चलन की को कहै चित्त न चैत चलाइये ।।१७।।

करि आदित्य अदृष्ट नष्ट यम करों अष्ट वसु।
रुद्रनि बोरि समुद्र करों गन्धर्व सर्व पशु।
बलित अबेर कुवेर बलिहिं गहि लेउँ इन्द्र अब।
विद्याधरनि अविद्य करों बिन सिद्धि सिद्ध सब।।
लै करों अदिति की दासि दिति अनिल अनल मिलि जाहिं जब।
सुनि सूरज सूरज उगत ही करौं असुर संहार सब ।।१८।।

अंग अली धरिये अँगिया उन आजु ते नींदौ न आउन दीजै।
जानत हूँ जिय नाते सखीन के लाजहू तो अब साथ न लीजै।
थोरेहिं द्यौस ते खेलन तेऊ लगीं उनसों जिन्हैं देखत जीजै।
नाह के नेह के मामिलें आपनी छाँहहू की परतीत न कीजै ।।१६।।

एक कहैं अमल कमल मुख सीता जू को,
एक कहैं चन्द्रमाई आनन्द को कन्द री।
होंइ जो कमल तोवै रैनि माँहि सकुचै री,
चन्द्र जौ तौ बासर में होय द्युति मन्द री।
बासर ही कमल रजनि ही में मुखचन्द,
बासर हू रजनि विराजै जग वन्द री।
देखे मुख भावत न देख्यो ही कमलचन्द,
ताते मुख मुखै सखी कमल न चन्द री ॥२०॥
चन्दन चढ़ाय चारु कुंकुम लगाय पीछे,
किधौं निसिनाथ निसि नेह सों दुराई है।
किधौं वंदी बन्दन छिरकि छीर सांपिनि-सी,
अलि अवली समीप सुधासुध आई है।
केसौदास हासरस मिलि अनुराग रस,
सरस सिंगार रसधार धरा आई है।
मेलि मालती की माल लाल डोरी, गोरी गुहैं,
बेनी पिकबैनी की त्रिवेनी सी बनाई है ॥२१॥
राधा के अंग गोराई-सी और गोराई बिरंचि बनावन लीनी।
कै सत बुद्धि विवेक सों एक अनेक बिचारनि में दृग दीनी।
बानिक तैसी बनी न बनावत केसव प्रत्युत ह्वै गई हीनी।
लै तब केसरि केतकि कंचन चम्पक के दल दामिनि कीनी ॥२२॥

रसिकप्रिया

हँसत कहत बात फूल से झरत जात,
गूढ़ भूर हाव भाव कोक कैसी कारिका।
पन्नगी नगी कुमारि आसुरी सुरी निहारि,
डारौं वारि किन्नरी नरी गमारि नारिका।
तापे हौं कहा ह्वै जाउँ बलि जाउँ केशवराइ,
रची विधि एक व्रजलोचन की तारिका।
भौंर से भ्रमर अभिलाष लाख भाँति दिव्य,
चंपे कैसी कली वृषभानु की कुमारिका ॥२३॥
मोहिबो मोहन की गति को, गति ही पढ़ैं बैन कहाँ धौं पढ़ैगी।
ओप उरोजन की उपजै दिन काइ मढ़ै अँगिया न मढ़ैगी।

नैनन की गति गूढ़ चलाचल केशवदास अकाश चढ़ैगी।
माइ! कहाँ यह माइगी दीपति जो दिन द्वै इहि भाँति बढ़ैगी ।।२४।।
सौहैं दिवाय दिवाय सखी इकबारक कानन आन बसाये।
जानै को केशव कानन ते कित ह्वै हरि नैननि माँझ सिधाये।
लाज के साज धरे ही रहे सब नैनन लै मन ही सों मिलाये।
कैसी करौं अब क्यों निकसों री हरेई हरे हिय में हरि आये ।।२५।।
कालिह की ग्वारि तौ आजहु तौ न सम्हारति केशव कैसेहु देहै।
सीरी ह्वै जात उठै कबहूँ जरि जीव रहै कै रही रुचि रे[1]है।
कोरि बिचार बिचारति है उपचारन के बरसै सखि मेहै।
कान्ह बुरो जिन मानौ तिहारी बिलोकन में बिस बीस बिसेहै ।।२६।।

देखत ही चित्र सूनी चित्रसाला बाला आजु,
रूप की सी माला राधा रूपक सुहाये री।
नूपुर के सुरन के अनुरूप तानै लेत,
पगतल ताल देत अति मन भाये री।
ऐसे मैं दिखाई दीन्हीं औचक कुँवर कान्ह,
जैसे हैं ये गात तैसे जात न बताये री।
केशोदास कहै परै अलज सलज सेन,
जलज से लोचन जलद से ह्वै आये री ।।२७।।

सूल से फूल सुवास कुवास सी भाकसी[2] से भये भौन सुभागे।
केशव बाग महाबन सों जुर-सी चढ़ी जोन्ह सबै अंग दागे।
नेह लगो उर नाहर सो निसि नाह घरीक कहूँ अनुरागे।
गारी से गीत बिरी[3] विषु सी सिगरेई सिंगार अँगार से लागे ।।२८।।

लीनै हमैं मोल अनबोलै आई जाग्यो मोह,
मोहिं घनश्याम घनमाला बोलि ल्याई है।
देखो ह्वै है, दुख जहाँ देहऊ न देखी परै,
देखो कैसें बाट केशो दामिनि दिखाई है।
ऊँचे नीचे बीच कीच कंटकन पीड़े पग,
साहस गयन्द गति अति सुखदाई है।

---

१. रेखा-क्षीण आशा।
२. भट्टी।
३. पान बीड़ा।

भारी भयकारी निसि निपट अकेली तुम,
नाहीं प्राणनाथ साथ प्रेम जो सहाई है ।।२९।।
गोप बड़े-बड़े बैठे अथाइनि केशव कोटि सभा अवगाहीं ।
खेलत बालक जाल गलीन में बाल बिलोकि बिलोकि बिकाहीं ।
आवति जाति लुगाई चहूँ दिसि घूँघट में पहिचानत छाँही ।
चन्द सो आनन काढ़ि कहाँ चली सूझत है कछु तोहिं कि नाही ।।३०।।
नील निचोल दुराइ कपोल विलोकत ही किये ओलिक तोही ।
जानि परी हँसि बोलति भीतर भाजि गई अवलोकत मोही ।
बूझिबे की जक लागी है कान्हहिं केशव कै रुचि रूप लिलोही ।
गोरस की सों बबा की सों तोहिं किवार लगी कहि मेरी सो कोही ।।३१।।
केशव कुँवर वृषभानु की कुँवरि वन,
देवता ज्यों वन उपवन विहरति है ।
कमला ज्यों थिर न रहति कहूँ एक ठौर,
कमलानुजा ज्यों कमलनि ते डरति है ।
काली ज्यों न केतकी के फूल सूँघै सीताजू,
ज्यों निसिचर मुखचन्द देखि ही जरति है ।
वदन उघारत ही मदन सुयोधन ही,
द्रौपदी ज्यों नाउँ मुख तेरोई ररति है ।।३२।।
कोमल अमल वे तो अमल ये तीछे चल,
मलिन नलिन नवनील कैसे पात हैं ।
सूधे साधु शुद्ध वे तो कुटिल करम ए तो,
केशव मरम चोर परम किरात हैं ।
पाइ हैं पकरि तब पाइहै न कैसे हू तू,
थोरे इठलात ऐ तो अति इठलात हैं ।
बरजत क्यों न तू ही कबि की कहत मेरे,
मोहन को मन तेरे नैन छू-छू जात हैं ।।३३।।
घोर घने घन घोरत सज्जल उज्जल कज्जल की रुचि राचें ।
फूले फिरै इभ[1] से नभ पाइक[2] सावन की पहिली तिथि पाँचें ।
चौहूँ कुघा तड़िता तड़पै डरपै बनिता कहि केशव साँचें ।
जानि मनों ब्रजराज बिना ब्रज ऊपर काल कुटुम्बिन नाचें ।।३४।।

---

१. हाथी ।
२. पैदल सिपाही ।

केशोदास लाख-लाख भाँतिन के अभिलाख,
बारि दै री बावरी न बारि हिये होरी सी।
राधा हरि केरी प्रीति सब ते अधिक जानि,
रति रतिनाथ हू में देखो रति थोरी सी।
तिनहूँ में भेद न भवानि हू पै पार्यो जाइ,
भारती की भारती है कहिबे को भोरी सी।
एकै गति एकै मति एकै प्राण एकै मन,
देखिबे को देह द्वै हैं नैनन की जोरी सी ॥३५॥

३—सेनापति

कवित्त रत्नाकर

दोष सौं मलीन गुनहीन कविता है, तो पै,
कीने अरबीन परबीन कोई सुनि है।
बिन ही सिखाये सब सीखिहैं सुमति जो पै,
सरस अनूप रस रूप यामैं धुनि है।
दूषन को करिकै कबित्त बिनु भूषन कौं,
जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुरमुनि है।
रामै अरचत सेनापति चरचत दोऊ,
कबित रचत यातें पद चुनि-चुनि है ॥१॥
सारंग धुनि सुनावै घन रस बरसावै,
मोर मन हरषावै अति अभिराम है।
जीवन अधार बड़ी गरज करनहार,
तपति हरनहार देत मन काम है।
सीतल सुभग जाकी छाया जग सेनापति,
पावत अधिक तन मन बिसराम है।
संपै[1] संग लीने सनमुख तेरे बरसाऊ,[2]
आयो घनस्याम सखि मानौं घनस्याम है ॥२॥
नाहीं नाहीं करै थोरे माँगे सब दैन कहैं,
मंगन कौं देखि पट देत बार बार है।

---

१. बिजली, सम्पत्ति।
२. वर्षा करने वाले।

जिनकौं मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सब जन मन भाये निरधार हैं।
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कनकन जोरैं दानपाठ परिवार हैं।
सेनापति बचन की रचना बिचारौ जामें,
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं ॥३॥

अँखियाँ सिराती ताप छाती की बुझाती,
रोम रोम सरसाती तन सरस परस ते।
रावरे अधीन तुम बिनु अति दीन हम,
नीरहीन मीन जिमि काहे कौं तरसते।
सेनापति जीवन अधार निरधार तुम,
जहाँ को ढरत तहाँ टूटत अरस ते।
उनै उनै गरजि गरजि आये घनस्याम,
ह्वै के बरसाऊ एक बार तौ बरसते ॥४॥

जैती बन बेली ओर तिनकी न कीजै दौर,
राखु मन एक ठौर नीके करि बस में।
देखि कै गुराई चिकनाई बार बार भूलि,
मति ललचाहि धीरता ही कौ अब समैं।
सेनापति स्याम रंग सेइ कै सुखित ह्वै है,
कह्यौ है उपाइ समुझाइ कै सरस में।
पीरे पान खाइ नीरैं चूकि कै न जाइ मान,
खई मिटि जाइगी अरूसे ही के रस में ॥५॥

अंजन सुरंग जीते खंजन कुरंग मीन,
नेंक न कमल उपमा को नियरात हैं।
नीकं अनियारे अति चपल ढरारे प्यारे,
ज्यों ज्यों मैं निहारे त्यों त्यों खरो ललचात है।
सेनापति सुधा से कटाछनि बरसि ज्यावें,
जिनकौं निरखि हियौ हरषि सिरात है।
कान लौं बिसाल, काम भूप के रसाल बाल,
तेरे दृग देखे मेरो मन न अघात है ॥६॥

हिय हरि लेत हैं निकाई के निकेत हँसि,
देते हैं सहेत निरखत करि सैन हैं।

सेनापति हरिनी के दृगन तें अति नीके,
दरद हैं हरत करत चित चैन हैं।
चाहत न अंजन रसिक जन रंजन हैं,
खंजन सरस रस-राग-रीति ऐन हैं।
दीरघ ढरारे, अनियारे, नेंक रतनारे,
कंज से निहारे कजरारे तेरे नैन हैं ।।७।।
कुन्द से दसन घन, कुन्दन बरन तन,
कुन्द सी उतारि धरी क्यों बनै बिछुरि कै ।
सोभा सुख कंद, देख्यो चाहियै बदन चंद,
प्यारी जब मंद मुसुकाति नैकु मुरि कै ।
सेनापति कमल से फूलि रहे अंचल में,
रहै दृग चंचल चुराये हू न दुरि कै ।
पलकें न लागें, देखि ललकें तरुन मन,
झलकें कपोल रही अलकें विथुरि क ।।८।।
छूट्यो ऐबो जैबो, प्रेम-पाती को पठैबो छूट्यो,
छूट्यो दूरि दूरि हू तै देखिबो दृगन तें ।
जेते मधियाती सब तिन सों मिलाप छूट्यो,
कहिबो सन्देस हू कौं छूट्यो सकुचन त ।
एती सब बातें सेनापति लोकलाज काज,
दुरजन त्रास छूटी जतन जतन तें ।
उर अरि रही चित चुभि रही देखौ एक,
प्रीति की लगनि क्योंहू छूटति न मन तें ।।९।।
नूपुर को झनकाइ मंद ही धरत पाइ,
ठाढ़ी आइ, आँगन भई ही साँझी बार सी ।
करता अनूप कीनी, रानी मैन भूप की सी,
राजै रासि रूप की विलास कौं अधार सी ।
सेनापति जाके दृग दूत ह्वै मिलत दौरि,
कहत अधीनता कौं होत हैं सिपारसी ।
गेह कौं सिंगार सी, सुरत सुख सार सी सो,
प्यारी मानौं आरसी चुभी है चित आर सी ।।१०।।
बिंब हैं अधर बिंब, कुंद के कुसुम दंत,
उरज अनार निरखत सुखकारी है ।

राजें भुजलता कोटि कंटक कटाछ अति,
लाल लाल कर किसलै के अनुकारी है।
सेनापति चरन बरन नव पल्लव के,
जंघन को जुग रंभा थंभ दुति धारी है।
मन तौ मुनिन हू कौं जो बन-बिहारी हुतौ,
सो तौ मृगनैनी तेरे जोबन बिहारी है ॥११॥

लोल हैं कलोल पारावार के अपार तऊ,
जमुना लहरि मेरे हिय कौं हरति है।
सेनापति नीकी पटवास हू तें ब्रज रज,
पारिजात हू तें बनलता सरसति है।
अंग सुकुमारी संग सोरह सहस नारी,
तऊ छिन एक पै न राधा बिसरति है।
कंचन अटा पर जराऊ परजंक तऊ,
कुंजन की सेजें वे करेजे खरकति हैं ॥१२॥

पून्यौ सी तिहारी लाल प्यारी मैं निहारी बाल,
तारे सम मोती के सिंगार रही साजि कै।
झीनो पट्टगात चाँदनी सौं अवदात जात,
लोचन चकोरन कौं देखें दुख भाजि कै।
सेनापति तनसुख सारी की किनारी बीच,
नारी के बदन आछी छबि रही छाजि कै।
पूरन सरदचंद बिंब ताके आसपास,
मानहुँ अखंड रह्यो मंडल बिराजि कै ॥१३॥

जौं ते प्रान प्यारे परदेस को पधारे तौं ते,
बिरह तें ऐसी भई ता तिय की गति है।
करि कर ऊपर कपोलहि कमलनैनी,
सेनापति अनमनी बैठियै रहति है।
कागहि उड़ावै कौहू कौहू करै सगुनौती,
कौहू बैठि अवधि के बासर गनति है।
पढ़ि पढ़ि पाती कौहू फेरि कै पढ़ति कौहू,
प्रीतम को चित्र मैं सरूप निरखति है ॥१४॥

ऋतु-वर्णन

लाल लाल केसू फूलि रहे हैं बिसाल संग,
स्याम रंग भेंटि मानौं मसि में मिलाये हैं।
तहाँ मधु काज आइ बैठे मधुकर पुंज,
मलय पवन उपवन वन धाये हैं।
सेनापति माधव महीना मैं पलास तरु,
देखि देखि भाउ कविता के मन आये हैं।
आधे अनसुलगि सुलगि रहे आधे मानौं,
बिरही दहन काम क्वैला परचाये हैं ॥१५॥
वृष को तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि जग जरत झरनि सीरी,
छाँह कौ पकरि पंथी पंछी बिरमत है।
सेनापति नेंक दुपहरी के ढरत होत,
धमका बिषम ज्यों न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामैं बितवत है ॥१६॥
सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवें,
नद नदी कुवें कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन मुरझात उपवन वन,
लाग्यौ है तवन डार्‌यौ भूतलौ तचाइ कै।
भीषम तपत ऋतु ग्रीषम सकुचि तातें,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइकै।
मानौं सीतकाल सीतलता के जमाइबे कौं,
राखे हैं विरंचि बीज धरा में धराइ कै ॥१७॥
दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पावस न पाई प्रेम पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी है,
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ।
आई सुधि बर की हिये में आनि खरकी,
तू मेरी प्रानप्यारी यह पीतम की बतियाँ

बीती औधि आवन की लाल मन भावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ ।।१८।।
गगन अँगन घनाघन तें सघन तम,
सेनापति नैंक हू न नैन मटकत हैं।
दीप की दमक जीगनान की झमक छाँड़ि,
चपला चमक और सौं न अटकत हैं।
रवि गयो दबि मानो ससि सोई धसि गयो,
तारे तोरि डारे ते न कहूँ फटकत हैं।
मानौं महा तिमिर तैं भूलि परी बाट तातें,
रवि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं ।।१९।।
सेनापति उनये नये जलद सावन के,
चारिहूँ दिसान घुमरत भरे तोय के।
सोभा सरसाने न बखाने जात काहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोय क ।
घन सों गगन छयो तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानौं रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि घोर निसा को भरम करि,
मेरे जान याही ते रहत हरि सोय कै ।।२०।।
कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
सेनापति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं।
उदित विमल चंद चाँदिनी छिटिकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन है ।।२१।।
आयो जड़कालो जोर, परत प्रबल पालो,
लोगन कौं लालो परयो जियें कित जाइकें।
ताप्यो चाहै बारि कर तिन न सकत टारि,
मानौं हैं पराये ऐसे भये ठिठराइ कै।
चित्र कैसो लिख्यो तेजहीन दिनकर भयो,
अति सियराइ गयो घाम पतराइ कै।

सेनापति मेरे जान सीत के सताये सूर,
राखे हैं सकोरि कर अंबर छपाइ कै ॥२२॥
बरन बरन तरु फूले उपवन बन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।
बंदी जिमि बोलत बिरद बीर कोकिल है,
गुंजत मधुप गान गुन गहियत है।
आवैं आसपास पुहुपन की सुबास सोई,
सोंधे के सुगंध माँझ सने रहियत है।
सोभा को समाज सेनापति सुखसाज आज,
आवत बसंत ऋतुराज कहियत है ॥२३॥

४—मतिराम

रसराज

कुंदन को रंगु फीको लगै झलकै असि अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसकानि-मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नीरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई ॥१॥
कानन लौं लागे मुसकान प्रेमपागे लोने लाज भरे लागे लोल लोचन अनंग ते।
भारु धरि भुजनि डुलावति चलति मंद औरें ओप उलहत उरज उतंग ते।
मतिराम यौवन पवन की झकोर आय बढ़िकै सरस रस तरल तरंग ते।
पानिप अमल की झलक झलकन लागी काई सी गई है लरिकाई कढ़ि अंग ते ॥२॥
क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारें कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे कै जीजै।
होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै ॥३॥
गौने के द्यौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन को गन आयो।
कंचन के बिछुवा पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ायो।
पीतम स्रोन समीप सदा बजैं यों कहिकै पहिले पहिरायो।
कामिनि कौंल चलावन को कर ऊँचो कियो पै चल्यो न चलायो ॥४॥
मानहु पायो है राज कहूँ चढ़ि बैठे हो ऐसे पलास के खोढ़े।
गूंज गरे सिर मोर पखा मतिराम जू गाय चरावत चोढ़े।

मोतिन को मेरो तोर्‌यो हरा गहि हाथन सों रही चूनरी पोढ़े।
ऐसे ही डोलत छैल भये तुम्हैं लाज न आवत कामरी ओढ़े॥५॥
मोरपखा मतिराम किरीट मैं कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसुकानि मनोहर कुंडल डोलनि मैं छबि छाई।
लोचन लोल विसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं? मीठी लगै अँखियान-लुनाई॥६॥

ललित ललाम

जंग में अंग कठोर महा मदनीर झरै झरना सरसे हैं।
झूलनि अंग घने मतिराम महीरुह फूल प्रभा निकसे हैं।
सुन्दर सिंदुरमंडित कुंभनि गैरिक-शृङ्ग उतंग लसे हैं।
भाऊ दिवान उदार अपार सजीव पहार करी बकसे हैं॥७॥
मोचन लागी भुराई की बातनि सौतिनि सोच भुरावन लागी।
मंजन कै नित न्हाय कै अंग अँगोछि कै बार झुरावन लागी।
मोरि मुखै मुसुकाय के चारु चितै मतिराम चुरावन लागी।
ताही सकोच मनो मृगलोचनि लोचन लोल दुरावन लागी॥८॥
तेरो कह्यो सिगरो मैं कियो निसि द्यौस तप्यौ तिहुँ तापन पाई।
मेरो कह्यो अब तू करि जो सब दाह मिटै परिहै पियराई।
संकर-पायनि मैं लगि रे मन थोरे ही बातन सिद्धि सुहाई।
आक धतूरे के फूल चढ़ाये ते रीझत हैं तिहुँ लोक के साँई॥९॥

कुन्दन के आँग माँग मोतिन सँवारी,
सारी सोहत किनारी वारी केसरि के रंग की।
कहै मतिराम मनि मंजुल तरौना छोटी,
नथुनी बिराजै गजमुकुतन संग की।
कुसुम के हार हियो हरति कुसुंभी आँगी,
सकै को बरनि आभा उरज उतंग की।
जोबन जरब महा रूप के गरब गति,
मदन के मद मद मोकल मतंग की॥१०॥
ह्वै कै डहडहे दिन समता के पाये बिन,
साँझ सरसिजनि सरमि सिरनायो है।
निसाभरि निसापति करि कै उपाय बिन,
पाएँ रूप बासर बिरूप ह्वै लखायो है।

कहै मतिराम तेरे बदनि बराबरि को,
आदरस बिमल बिरंचि न बनायो है।
दरप न रह्यो ताते दरपन कहियत,
मुकुर परत ताते मुकुर कहायो है ।।११।।

सतसई

तेरी औरै भाँति की दीपसिखा सी देह।
ज्यों ज्यों दीपति जगमगै, त्यों त्यों बढ़त सनेह ।।१२।।
पगी प्रेम नँदलाल के, भरन आपु जल जाइ।
घरी घरी घर के तरें, घरनि देति ढरकाइ ।।१३।।
दिपै देह दीपति गयो, दीप बयारि बुझाय।
अंचल ओट किये तऊ, चली नवेली जाय ।।१४।।
तेरे मुख की मधुरई, जो चाखी चख चाहि।
लगत जलज जंबीर सों, चंद चूक सों ताहि ।।१५।।
जब जब चढ़ति अटानि दिन, चंदमुखी यह बाम।
तब तब घर घर धरत हैं, दीप बारि सब गाम ।।१६।।
दूनी मुख में छबि भई, बेसरि धरी उतारि।
हरि के उर सोई लगी, करति रसोई नारि ।।१७।।
अब तेरो बसिबो इहाँ, नाहिन उचित मराल।
सकल सूखि पानिप गयो, भयो पंकमय ताल ।।१८।।
नारि नैन को नीर अरु, तरुनी तीर उतंग।
बढ़त सरित परिवार के, गिरत एक ही संग ।।१९।।
श्रम जलकन झलकन लगे, अलकनि कलित कपोल।
पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल ।।२०।।
चंचलता तो चखनि की कही न जाइ बनाय।
जिन्हें चाहि चंचल महा चितौ अचल होइ जाय ।।२१।।
नंदलाल के रूप पर, रीझि परी इक बार।
अधमूँदी अँखियन दई, मूँदी प्रीति उघार ।।२२।।
रात्यौ दिन जागति रहै, अगिनि लगनि की मोहिं।
यों हिय मैं तू बसतु है, आँच न पहुँचति तोहि ।।२३।।
प्यिराई तन मैं परी, पानिप रह्यो न देह।
राख्यो नंदकुँवार ने, करि कुँवार को मेह ।।२४।।

पिसुन बचन सज्जन चितै, सकै न फोरि न फारि ।
कहा करे लगि तोय में, तुपक तीर तरवारि ॥२५॥
अरुन बरन बरनि न परै, अमल अधर दल माँझ ।
कैधों फूली दुपहरी, कैधों फूली साँझ ॥२६॥
तिहि पुरान नव ह्वै पढ़े, जिहिं जानी यह बात ।
जो पुरान सो नव सदा, नव पुरान ह्वै जात ॥२७॥
लिखति अवनि तल चरन से, विहसत विमल कपोल ।
अधनिकरे मुख इंदु ते, अमृत बिंदु ते बोल ॥२८॥
हसत बाल के बदन में, यों छबि कछू अतूल ।
फूली चंपक बेलि ते, भरत चमेली फूल ॥२९॥
अटा ओर नँदलाल उत, निरखो नेक निसंक ।
चपला चपलाई तजी, चंदा तजो कलंक ॥३०॥
फूलति कली गुलाब की, सखि यह रूप लखै न ।
मनो बुलावति मधुप कों, दै चुटकी की सैन ॥३१॥
उमगी उर आनंद की, लहरि छहरि दृग राह ।
डूबी लाज-जहाज लों, नेह नीर-निधि माह ॥३२॥

५—बिहारी

मेरी भवबाधा हरौ, राधा नागरि सोय ।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित द्युति होय ॥१॥
चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥२॥
लहलहाति तन तरुनई, लचि लगि लौं लफि जाय ।
लगै लांक लोयन भरी, लोयन लेति लगाय ॥३॥
रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजन दैन ।
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन ॥४॥
सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि ।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि ॥५॥
पग-पग मग अगमन परति, चरन अरुन द्युति झूल ।
ठौर-ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूलि ॥६॥
भई जु तन छवि बसन मिलि, बरनि सकै सुन बैन ।
अंग ओप आँगी दुरी, आँगी अंग दु रैन ॥७॥

भूषन पहिरि न कनक के, कहि आवत इहि हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत ॥८॥
मानहु विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृगपग पोंछन को किये, भूषन पायन्दाज ॥९॥
फिरि-फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव।
अंग-अंग छबि झौंर में, भयो भौंर की नाव ॥१०॥
वाहि लखे लोयन लगै, कौन जुवति की जोति।
जाके तन की छाँह ढिग, जोन्ह छाँह सी होति ॥११॥
अंग-अंग नग जगमगैं, दीप-सिखा-सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह ॥१२॥
लिखन बैठि जाकी सबिहिं, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥१३॥
दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥१४॥
इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाहिं।
देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं ॥१५॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहन हँसै, देन कहै नटि जाय ॥१६॥
हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाँव।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाँव ॥१७॥
जिहिं निदाघ दुपहर रहै, भई माह की राति।
तिहिं उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति ॥१८॥
स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा तीर।
अँसुवन करति तरौंस को, खिन खौरौंहों नीर ॥१९॥
छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर-ठौर झूमत झपत, भौंर झौंर मधु अंध ॥२०॥
बठ रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छाँह ॥२१॥
पावक-झर तें मेह झर, दाहक दुसह विशेष।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख ॥२२॥
रुनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुञ्ज समीर ॥२३॥

मुँह धोवति एँड़ी घँसति, हँसति अनंगवति तीर।
घँसति न इंदीवर नयनि, कालिन्दी के नीर ॥२४॥
तन्त्री नाद कबित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥२५॥
टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख जोति।
फिरति रसोई के बगर, जगर मगर दुति होति ॥२६॥
सोहत संग समान को, इहै कहत सब लोग।
पान पीक ओठन बनै, काजर नैनन जोग ॥२७॥
कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय ॥२८॥
जिन दिन देखे वे सुमन, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कँटीली डार ॥२९॥
सरस कुसुम मँडरात अलि, न झुकि झपटि लपटात।
दरसत अति सुकुमारता, परसत मन न पत्यात ॥३०॥
अरे हंस या नगर में, जैयो आप बिचारि।
कागनि सों जिन प्रीति करि, कोकिल दई बिड़ारि ॥३१॥
वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब ॥३२॥
दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं नहिं भूलि।
दई-दई क्यों करत है, दई-दई सु कबूल ॥३३॥

६—देव

आई ही गाय दुहाइबे को, सु चुखाइ चली न बछान को घेरति।
नैकु डराय नहीं कब की वह माइ रिसाय अटा चढ़ि टेरति।
यों कवि देव बड़े खन की बड़ो दृग बीच बड़े दृग फेरति।
हौं मुख हेरति ही कब की जब की यह मोहन को मुख हेरति ॥१॥
औरनु के अंग भूषन देखि सु हौंसनि भूषन वेष सकेलै।
मन्द अमन्द चलै चितवै कवि देव हँसै बिलसै बपु बेलै।
फूल बिथोरि कै बारन छोरि कै हारन तोरि उतै गहि मेलै।
मूरि के भाव बिसूरि सखीनु कों दूरि ते दूरि कै धूरि में खेलै ॥२॥
होरी हरें हरें आइ गई हरि आये न हेरि हिये हहरैगी।
बानि बनी बन बागन की कवि देव बिलोकि बिलोकि बरैगी।

नाउँ न लेउ बसन्त को री सुनि हाय कहूँ पछिताय मरैगी।
कैसे कि जीहै किसोरी जो केसरि नीर सो बीर अबीर भरैगी ।।३।।
ये अँखियाँ बिन काजर कारी अयाँरी चितै चित्त मैं चपटी सी।
मीठी लगें बतियाँ मुख सीठी यों सौतिन के उर मैं दपटी सी।
अंग हू राग बिना अँग अंग झकोरें सुगन्धन की झपटी सी।
प्यारी तिहारी ये एँड़ी लसै बिन जावक पावक की लपटी सी ।।४।।

पाउँ पाउँ पाँवरे परे हैं पुर पौरि लागि,
धाम धाम धूपनि के धूम धुनियतु हैं।
कस्तूरी अतरसार, चोवारस घनसार,
दीपक हजारन अँध्यार लुनियतु हैं।
मधुर मृदंग राग रंग के तरंगनि मैं,
अंग अंग गोपिन के गुन गुनियतु हैं।
देव सुखसाज महाराज व्रजराज आज,
राधा जू के सदन सिधारे सुनियतु हैं ।।५।।

कोयन जोति चहूँ चपला सुरचाप सी भ्रू रुचि कज्जल काँदौं।
बूँद बड़े बरसें अँसुवा हिरदै न बसै निरदै पति जादौं।
देव समीरन ही दुनियै धुनि ये सुनि कै कल कण्ठ निनादौं।
तारे खुले न घिरी बरुनी घन-नैन भये दोउ सावन भादौं ।।६।।
देव मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगामद बिन्द कै भाख्यो।
कंचुकि मैं चुपर्‌यो करि चोवा लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो।
लै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ।।७।।

वारौं कोटि इन्दु रसविन्दु अरविन्द पर,
मानै ना मिलिंद विन्दु सम कै सुधासरो।
मल्लै मल्ल मालती कदम्ब कचनार चम्पा,
चम्पे हू न चाहै चित्त चरन टकासरो।
पदुमिनि तू ही षटपद को परमपद,
देव अनुकूल्यो और फूल्यो तो कहा सरो।
रस-रिस रास-रोस आसरो सरस बसे,
बीसो बिसवास रोकि राख्यो निसि बासरो ।।८''

माखन सो मन दूध सों जोवन है दधि सों अधिको उरईठी।
जा छबि आगे सुधाधर छाँछि समेत सुधा बसुधा सब सीठी।

नैनन नेह चुवे कहि देव बुझावत बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहो क्यों न लगै मनमोहनै मीठी ।।९।।

घाँघरो घनेरी लाटे लम्बी लोटें लाँक पर,
कँकरेजी सारी खुली अधखुली ढाड़ वह।
ेरी गज गौनी दिन दूनो दुति होती देव,
लागत सलोनी गुरलोगन की लाड़ वह।
चंचल चितौनि चित्त चुभी चित्तचोर वारी,
मोर वारी बेसरि सुकेसरि की आड़ वह।
गोरे गोरे गोलनि की हँसि हँसि बोलन की,
कोमल कपोलन की जी में गड़ी गाड़ वह ।।१०।।

देव जु पै चित चाहिए नाह तौ,
नेह निवाहिए देह मर्‌यो परै।
ज्यौं समुझाइ बुझाइये राह,
अमारग जो पग धोखे धर्‌यो परै।
नीके में फीके ह्वै आँसू भर्‌यो कत,
ऊँची उसास गर्‌यो त्यौं भर्‌यो पर।
रावरो रूप पियो अँखियान,
भर्‌यो सो भर्‌यो उबर्‌यो सो ढर्‌यो परै ।।११।।

जब ते कुंवर कान्ह रावरी कला-निधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।
तब ही ते देव देखो देवता सी हँसति सी,
खीझति सी रीझति सी रूसति रिसानी सी।
छोही सी छली सी छीनि लीन्ही सी छकी सी छीन,
जकी सी टकी सी लागी थकी थहरानी सी।
बींधी सी बँधी सी विष बूड़ी सी विमोहत सी,
बैठी वह बकत विलोकत बिकानी सी ।।१२।।

आई बरसाने ते बुलाई वृषभानु सुता,
निरखि प्रभानि प्रभाभानु की अथै गई।
चक चकवान के चुगाये चक चोटन सों,
चौंकत चकोर चकचौंधि सो चकै गई।
नन्द जू के नन्दन के नैनन अनन्दमई,
नन्द जू के मन्दिरनि चन्दमई छै गई।

कंजन कलिनमई कुंजन अलिनमई,
गोकुल की गलिन नलिनमई कै गई ।।१३।।
मूरति जो मनमोहन की मनमोहनी के थिरु ह्वै थिरकी सी।
देव गुपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखन झाँकि सकै नहिं नैनन लाज घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिये हिरकी खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी सी ।।१४।।
गोरे मुख गोरहरे हँसत कपोल बड़े,
लोयन बिलोल-बोल लोने लीन लाज पर।
लोभा लागे लाल लखि सोभा कवि देव छबि,
गोभा से उठत रूप सोभा के समाज पर।
बादले की सारी जरदावन किनारी,
जगमगी जरतारी भीनी झालरि के साज पर।
मोती गुहे कोरन चमक चहुं ओर ज्यों,
तोरन तरैयन की तानी दुजराज पर ।।१५।।
ओझलि ह्वै आई झिकि उझकी झरोखा रूप,
झर सी झमकि गई झलकनि झाईं की।
पैने अनियारे पै सहज कजरारे दृग,
चोट सी चलाई चितवनि चंचलाई की।
कौन जानै कोही उड़ि लागी डीठि मोही उर,
रहै अवरोही देव निधि ही निकाई की।
अब लगि आँखिन की पूतरी कसौटिन में,
लागी रहै लीक वाकी सोने सी गुराई की ।।१६।।

७—घनानन्द

नेही महा ब्रजभाषा प्रबीन औ सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग वियोग की रीति में कोबिद भावनाभेद सरूप को ठानै।
चाहै के रंग में भींज्यो हियो बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रबीन सुछन्द सदा रहै सो घन जी के कबित्त बखानै ।।१।।
भोर ते साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेंकु न हारति।
साँझ ते भोर लौं तारनि ताकिबो तारन सौं इक तार न टारति।
जौं कहूँ भाव तो दीठि परै घन आनन्द आँसुन औसर गारति।
मोहन सौहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के मन आरति ।।२।।

कहाँ एतो पानिप बिचारी पिचकारी धरें,
आँसू नदी नैननि उमगियै रहति है।
कहाँ ऐसी राँचनि हरद केसू केसरि मैं,
जैसी पियराई गात पगियै रहति है।
चाँचरि चौपही हू तौ औसर ही माचति है,
चिन्ता की चहल चित लगियै रहति है।
तपनि बुझे बिन आनन्द घन जान बिन,
होरी सी हमारे हियें लगियै रहति है।।३।।

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलें तजि आपुनपौ झझुकें कपटी जे निसाँक नहीं।
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक ते दूसरौं आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।।४।।

कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबहीं करेजो किन कोरि लै।
पैंड परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्योंहि,
चातक घातक त्योंही तूहू कान फोरि लै।
आनन्द के घन प्रान जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरि लै।
जौंलौं करैं आवन बिनोद बरसावन वे,
तौलौं रे उरारे बजमारे घन घोरि लै।।५।।

चूर भयो चित पूर परेखनि ऐहो कठोर अजौं दुख पीसत।
साँस हिये न समाय सँकोचनि हाय इते पर बान कसीसत।
ओटनि चोट करौ घन आनन्द नीके रहौ निसि द्यौस असीसत।
प्राननि बीच बसे हौ सुजान पै आँखिन दोष कहा जु न दीसत।।६।।

पर कारजहिं देह को धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा की समान करौ सबही बिधि सज्जनता परसौ।
घनआनन्द जीवन दायक हौ कछु मेरियो पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ।।७।।

मूरति सिंगार की उजारी छबि आछी भाँति,
दीठि लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति रसना सवाद पाँवड़े पुनीतकारी,
पाय चूमि चूमि कै कपोलनि सों माँजिहौं।

जान प्यारे प्रान अंग अंग रुचि रंगनि मैं,
बोरि सब अंगनि अनंग दुख भाँजिहौं।
कब घनआनन्द ढरीहीं बानि देखे सुधा,
हेत मन घट बरकनि सु बिराजिहौ ॥८॥

अंतर हौ किधौं अंत रहौ दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं॥
जो घनआनँद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्रानि पीरौं।
पाऊँ कहा हरि हाय तुम्हें धरनी मैं धँसौं कि अकासहि चीरौं॥९॥

हमसों पिय साँचियै बात कहौ मन ज्यों मन त्यों अरु नाँहि कहूँ।
कपटी निपटै हिय दाहत हौ निरदै जु दई डरु नाँहि कहूँ।
सब ही रँग मैं घन आँनंद पै बस बात परे थरु नाँहि कहूँ।
उघरौ बरसौ सरसौ दरसौ सब ठौर बसौ घर नाँहि कहूँ॥१०॥

माधुरी गहर उठै लहर लुनाई जहाँ,
कहाँ लों अनूप रूप पानिप बिचारियै।
आरसी जो सम दीजै बूझ कों अरूझ कीजै
आछे अंग हेरि फेरि आपो न निहारियै।
मोहनी की खानि है सुभाइ की हँसनि जाकी
लाड़िली लसनि ताकी प्राननि तें प्यारियै।
रीझौ रीझि भींजे घनआनँद सुजान महा,
वारियै कहा सकोच सोचन ही हारियै॥११॥

चारु चामीकर चंद चपला चंपक चोखी,
केसरि चटक कौन लेखें लेखियत है।
उपमा बिचारी न बिचारो नहिं जान प्यारी,
रूप की निकाई औरै अवरेखियत है।
सरस सनेह सानी राजति रमानी रस,
तरुनाई तेज अरुनाई पेखियत है।
मंडित अखंड घन आनंद उजास लिएँ,
तेरे तन दीपति दिवारी देखियत है॥१२॥

स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सोहै अमावस अंक उज्यारी।
धूम के पुंज में ज्वाल की माल सी पै दृग सीतलता सुखकारी।
कै छवि छायो सिंगार निहारि सुजान तिया तन दीपति प्यारी।
कैसी फबी घन आनँद चोंपनि सों पहिरी चुनि साँवरी सारी॥१३॥

जाके उरबसी रसमसी छर साँवरे की,
ताहि और बात नीकी कैसें करि लागि है।
चषनि चषक पूरि पियो जिम रूप रस,
कैसे सो गरल सनी सीखनि सों पागि है।
आनँद को घन स्यामसुन्दर सजल अंग,
छाँड़ि धूम धूँधरि सों कैसे कोउ रागि है।
ये तो नैन वाही को बदन हेरें सीरे होत,
और बात आली सब लागति ज्यों आगि है ।।१४।।

रैन दिना घुटिबो करें प्रान झरें अँखियाँ दुखियाँ झरना सी।
प्रीतम की सुधि अंतर में कसकै सखि ज्यों पँसुरीन में गाँसी।
चौचँदचार चवाइन के चहुँ ओर मचें बिरचें करि हाँसी।
यों मरिये भरिये कहि क्यों सु परो जनि कोऊ सनेह की फाँसी ।।१५।।

एँड़ी ते सिखा लौं है अनूठियै अँगेट आछी,
रोम रोम नेह की निकाई में रही रसनि।
सहज सुछबि देखें दबि जाहि सबै बाम,
बिन ही सिंगार औरै बानिक विराजे बनि।
गति लै चलत लखें मतिगति पंगु होति,
दरसति अंग रंग माधुरी बसन छनि।
हँसनि लसनि घन आनँद जुन्हाई छाई,
लागै चौंध चेटक अमेट ओयी भौहैं तनि ।।१६।।

८—बेनी प्रबीन

नवरस तरंग

कालि्ह ही गूँथि बबा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ ते इहाँ पुषराग की संग यई जमुना तट बाला।।
न्हात उतारी न बेनी प्रबीन हँसै सुनि बैनन नैन विसाला।
जानति ना अँग की बदली सब सों बदली बदली कहै माला ।।१।।

घेरी अँधेरी घनी बदरी अब आवन चाहत है अति पानी।
पौन की ऐसी झकोर चली मग ह्वै है रहे कहुँ छप्पर छानी।।
प्रान लै आई निकुञ्ज अली तें भली भई आइ गये सुखदानी।
बेलि के धोखे गह्यो इन मोंहि तमाल के धोके इन्हैं लपटानी ।।२।।

कछू परै भूमि भूमि कूप में रपटि कछू
कछुक लपिटि लागी लांबी-लांबी लट में।
जेलु ऐसी जेवरी समेटि धरे दोऊ कर
भरे अनभरे घटपरै पनिघट में।
बोलति न बैन नैन जल के प्रवाह बहे
गहे ठाढ़ी सखियाँ प्रबीन बेनी तट में।
हँसी सी बिकल जदुबंसी में रहे ह्वै प्रान
गंसी सी लगी है बंसी बाजें बंसी बट में ।। ३ ।।

गोकुल की बन बागन बीच जुरी सब आनि अनूप अनूढें।
चोर मिहीचनी खेलत खेल लुकें मुलकैं मिलि कुंजन गूढें।
देखि गुपालहिं बेनी प्रबीन हँसैं हुलसैं मति की अति मूढें।
हौं सखि सोनजुही तर बैठि लला सर पैठि सरोजन ढूंढें ।। ४ ।।

ब्याली सी विषम बेनी आलिन बनाई जिन
तिन सों प्रबीन बेनी लीजै कछु करु है।
और मेरी रानी मुखचन्द की कहानी सुनो
दिन ही मैं कीन्है रहै चाँदनी पसरु है।
कैसे कढ़ि सकै बढ़ि कोठरी की पौरि आगे
लिखि दीन्हों करम विरंचि याही घरु है।
तुम बन बागन बिहार करो मेरी बीर
हमैं महामोरन चकोरन को डरु है ।। ५ ।।

गाइ हैं लोग लुगाई सबै जबै आनन्द कोटि हियै उपजाइ हैं।
जाइ हैं खेलन फाग सोहागन भाग भरी अनुराग न छाई हैं।।
छाइहै बीर अबीर गुलालन दम्पति ऊपर रंग न नाइ हैं।
नाइहै काहू जो बेनी प्रबीन तो जात न प्रान विलंब लगाइ हैं ।। ६ ।।

भृकुटी धनु बेसरि मोर मनो मनि मानिक इन्द्रबधू जितु है।
दुति दामिनि कोर हरी बनबेलि घटाघन घूंघट सो हितु है।।
उमगी रस बेनी प्रबीन रसाल भयो अब चातक सों चितु है।
हित रावरे नौलकिसोर लला अबला भई पावस की रितु है ।। ७ ।।

मालिन ह्वै हरवा गुहि देत चुरी पहिरावै बने चुरिहेरी।
नाइनि ह्वै निरुवारत केस हमेस करै बनि जोगिनि फेरी।।
बेनी प्रबीन बनाइ बिरी बरईन बने रहैं राधिका के री।
नन्दकिसोर सदा वृषभान की पौरि पै ठाढ़े रहैं बने चेरी ।। ८ ।।

लिखि लीन्ही प्रेम की पहेलिन की पोथी उर
सिखि लीनी बतियाँ सहेलिन सो तन्त की।
प्रीति गुड़ियान की भई है छल कैसी रीति
सुनत सोहान लागी मदन महन्त की।
अंग-अंग रंग-रंग बसन प्रबीन बैनी
संग-संग मानौ रितुराजत बसन्त की।
एक ही दिना मैं जलधर सी उमड़ि आई
यौवन की उमँग अवाई सुनि कन्त की॥ ६॥

जीरन सी जो अहीर की छोहरी पीर अधीर परी रहै ठाढ़ी।
दोहरी ह्वै गई बेनी प्रबीन मनो हरी दीपति देह में काढ़ी।
एक घरी घर में न रहै हरि आवन की सुने चावन बाढ़ी।
कालिंदी घाट में चौहट हाट में गागरि को भरे बाट में ठाढ़ी॥१०॥

घहराती कछूक घटा घन की थहराती पुहूपनि बेलि पुही।
झहराती समीर झकोर महा महराती समूह सुगन्ध उही।
तहराती गुविन्द सो गोपसुता सिर ओढ़नियाँ फहराती सुही।
ठहराती मरू करि नैनन में परि अंगन में छहराती फुही॥११॥

धायिनी कुसुम केसू किसलय कुमेदान
कोकिला कलापकारी कारतूस जंगी है।
तोपै बिकरारैं जे वै पात बिन भई डारैं
दारु धूरि धारैं औ गुलाब गोला अंगी है।
बेनी जू प्रबीन कहै मंजरी सँगीन पौन
बाजत तँबूर भौंर तूर तासु संगी है।
बैरी बलवान बिरहीन अबलान पर
आयो है बसन्त कम्पू मदन फिरंगी है॥१२॥

कूल कलिंदी के कान्ह कलानिधि वा मुख की मुसुकानि जोन्हाई।
बेनी प्रबीन रही फबि त्यों छबि नैन चकोरनि की सुखदाई।
घूँघट को पट झीनहू टारि गँवारि मैं नारि चहौं टक लाई।
तौ लगि लाज बढ़ी हदरी चहुँ ओर मनो बदरी मढ़ि आई॥१३॥

धोखे कढ़ी हुती पौरि लौं राधिका नन्दकिसोर तहाँ दरसाने।
बेनी प्रबीन देखा-देखी ही में सनेह समूह दोऊ सरसाने।
झाँकि झरोखे सकै न सकोचनि लोचन नीर हिये उर साने।
मेरी न तेरी सुनै समुझै न वै फेरी सी देत फिरैं बरसाने॥१४॥

रूठि मोसों झूठहू कबौं न मुरि बैठी अब
कत दुरि बैठी कछू कीन्हे हेरि हाँसु है।
बोलिये न बोल बेगि श्रवन सुधा से नाइ
येतेऊ बियोग मोहिं दुसह निवासु है।
तुम हो प्रबीन बेनी प्यारी बसुधा की जाई
सरबस हाँसो जापै जगत के बासु है।
मैं तो ताही भूप को तनुज तुम देखो सोचि
सुत के बियोग ते पयाने प्रान जासु है ।।१५।।
काँपत सुरेस सुरलोक हहलत अति
खलभल अधिक परी है उर रामा के।
भनत प्रबीन बेनी धनद सुखानो जात
कनद समेटत सकल सुख सामा के।
रिद्धि सिद्धि सहित समृद्धि वृद्धि सम्पति की
चरन परी है जाइ वाकी वर वामा के।
धरि धरि भुज हरि हरि पटरानी कहै,
भरि भरि लेत मूठी तन्दुल सुदामा के ।।१६।।

९—पद्माकर

जगद्विनोद

सुन्दर सुरंग नैन सोभित अनंग रंग
अंग अंग फैलत तरंग परिमल के।
बारन के भार सुकुमारि को लचत लंक
राजै परजंक पर भीतर महल के।
कहै पदमाकर बिलोकि जन रीझैं जाहि
अम्बर अमल के सकल जल थल के।
कोमल कमल के गुलाबन के दल के
सुजात गड़ि पायन बिछौना मखमल के ।।१।।
आई खेलि होरि घरैं नवलकिसोरी कहूँ
बोरी गई रंग में सुगन्धनि झकोरै है।
कहै पदमाकर इकन्त चलि चौकी-चढ़ि
हारन के बारन ते फन्द बंद छोरै है।

घाँघरे की घूमनि सु ऊरुनि दुबीचे दाबि
आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दाँतनि अधर दाबि दूनर भई सी चापि
चौवर पचौवरि कै चूनरि निचोरै है ॥२॥

पीतम के संग ही उमगि उड़ि जैबे को
न एति अंग अंगनि परन्द पँखियाँ दईं।
कहै पदमाकर जे आरती उतारैं चौंर
ढारैं श्रम हारैं पै न ऐसी सखियाँ दईं।
देखि दृग द्वै ही सों न नेकहु अघैये इन
ऐसे झुकाझुक में झपाक झखियाँ दईं।
कीजै कहा राम स्याम आनन बिलोकिबे को
बिरचि बिरंचि न अनन्त अँखियाँ दईं ॥३॥

गोकुल के कुल के गली के गोप गाँवन के
जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै पदमाकर परोस पिछवारन ते
द्वारन ते दौरि गुन औगुन गनै नहीं।
तौ लौं चलि चातुर सहेली आई कोऊ कहूँ
नीकै कै विचारै ताहि करत मनै नहीं।
हौं तो स्याम रंग मैं चुराइ चित्त चोराचोरी
बोरत तौ बोर्‌यौ पै निचोरत बनै नहीं ॥४॥

गो गृह काज गुवालन के कहें देखिबे को कहूँ दूरि के खेरो।
माँगि बिदा लई मोहिनी सों पदमाकर मोहन होत सबेरो।
फेंट गही न गही बहियाँ न गरो गहि गोबिंद गौन ते फेरो।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गुपाल की गैल में गेरो ॥५॥

आजु दिन कान्ह आगमन के बधाये सुनि
छाये मग फूलनि सुहाये थल थल के।
कहै पदमाकर त्यों आरती उतारिबे को
थारन में दीप हीरा हारन के छलके।
कंचन के कलस भराये भूरि पन्नन के
ताने तुंग तोरन तहाँई झलाझल के।
पौरि के दुवारे तें लगाइ केलि मन्दिर लौं
पदमिनी पाँवड़े पसारे मखमल के ॥६॥

कान सुनि आगम सुजान प्रान प्रीतम को
आति सखियान सजी सुन्दरी के आसपास।
कहै पदमाकर सु पन्नन के हौज हरे
ललित लबालब भरे है जल बास बास।
गूँदि गेंदे गुल गज गोहरनि गंज गुल
गुपत गुलाबी गुल गजरे गुलाब पास।
खासे खसबीजन सुपौन पौनखाने खुले
खस के खजाने खसखाने खूब खास खास॥७॥

झाँकति है का झरोखे लगी लग लागिबे को इहाँ झेल नहीं फिर।
त्यों पदमाकर तीखे कटाछन की सर को सर-सेल नहीं फिर।
नैनन ही की घलाघल कै घन घावन को कछु तेल नहीं फिर।
प्रीति-पयोनिधि में धँसि कै हँसि कै कढ़िबो हँसी खेल नहीं फिर॥८॥

औरै भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर
और डौर भौंरन में बौरन के ह्वै गये।
कहै पदमाकर सु औरै भाँति गलियान
छलिया छबीले छैल और छवि छ्वै गये।
औरै भाँति बिहग समाज मैं अवाज होति
अबै ऋतुराज के न आज दिन द्वै गये।
औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रंग
औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गये॥ ९॥

पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज हैं।
कहै पदमाकर बिसासी या बसन्त के सु
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं।
ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजे भलो
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं॥१०॥

ऐ ब्रजचन्द चलौ किन वाँ ब्रज लूकैं बसन्त की ऊकन लागीं।
त्यों पदमाकर पेखौ पलासन पावक सी मनौं फूँकन लागीं।
वैं ब्रजबारी बिचारी बधू बनवारी हिये लौं सु हूँकन लागीं।
कारी कुरूप कसाइनें ये सु कुहू-कुहू क्वैलिया कूकन लागीं॥११॥

चपला चमाकें चहूँ ओरन ते चाह भरी
चरजि गई ती फेरि चरजन लागी री।
कहै पदमाकर लवंगन की लोनी लता
लरजि गई ती फेरि लरजन लागी री।
कैसे धरौं धीर वीर त्रिबिधि समीरें
तन तरजि गई तो फेरि तरजन लागी री।
घुमड़ि घमंड घटा घन की घनेरी
अबै गरजि गई ती फेरि गरजन लागी री ।।१२।।

गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं
चाँदनी है चिक हैं चिरागन की माला हैं।
कहै पदमाकर त्यों गजक हैं गिजा हैं
सजी सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं
सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं ।।१३।।

वा अनुराग की फाग लखो जहँ रागति राग किसोर-किसोरी।
त्यौं पदमाकर घाली घली फिरि लाल ही लाल गुलाल की झोरी।
जैसी कि तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंग में बोरी।
गोरिन के रंग भीजिगो साँवरो साँवरे के रंग भीजिगै गोरी ।।१४।।

एकै संग धाये नन्दलाल औ गुलाल दोऊ
दृगनि गये जु भरि आनन्द मढ़ै नहीं।
धोइ-धोइ हारी 'पदमाकर' तिहारी सौंह
अब तो उपाय एको चित्त पै चढ़ै नहीं।
कैसी करौं कहाँ जाउँ कासों कहौं कौन सुनै
कोऊ तो निकासो जासों दरद बढ़ै नहीं।
एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन सों
कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं ।।१५।।

जैसो तैं न मोसों कहूँ नेकहू डरात हु तो
ऐसो अब हौं हू तोसों नेक हू न डरिहौं।
कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो तो
उमंड करि तोसों भुजदंड ठोकि लरि हौं।

चलो-चलु चलो-चलु बिचलु न बीच ही तें
कीच-बीच नीच तो कुटुम्ब को कचरिहौं ।
एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहिं
गंगा की कछार में पछारि छार करिहौं ।।१६।।

घर ना सुहात न सुहात बन बाहिर हू
बागना सुहात जे खुसाल खुसबोही सों ।
कहै पदमाकर घनेरे धनधाम त्योंही
चन्द ना सुहात चाँदनी हू जोग जोही सों ।
साँझ ना सुहात दिन माँझ ना सुहात कछू
ब्यापी यह बात सो बखानत हौं तोही सों ।
राति ना सुहात ना सुहात परभात आली
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों ।।१७।।

फाग की भीर अभीरन में गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी ।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाइ अबीर की झोरी ।
छीन पितम्बर कंमर ते सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिर आइयौ खेलन होरी ।।१८।।

हँसि-हँसि भाजें देखि दूलह दिगम्बर को
पाहुनी जे आवें हिमाचल के उछाह में ।
कहै पदमाकर सु काहू सों कहै को कहा
जोई जहाँ देखै सो हँसेई तहाँ राह में ।
मगन भयेऊ हँसै नगन महेस ठाढ़े
और हँसे येऊ हँसि-हँसि कै उमाह में ।
सीस पर गंगा हँसै भुजनि भुजंगा हँसैं
हास ही को दंगा भयो नंगा के बिवाह में ।।१९।।

बारि टारि डारौं कुम्भकर्नहिं बिदारि डारौं
मारौं मेघनादै आजु यो बल अनन्त हौं ।
कहै पदमाकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौं
डारत करेई यातुधानन को अन्त हौं ।
अच्छहिं निरच्छ कपि रुच्छ ह्वै उचारौं इमि
तोसे तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गन्त हौं ।
जारि डारौं लंकहिं उजारि डारौं उपवन
फारि डारौं रावन को तौ मैं हनुमन्त हौं ।।२०।।

सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि,
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै पदमाकर सु हेममय हाथिन के,
हलके हजारन के बितरि बिचारै ना।
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राव,
याहि गज धोके कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोय रहीं,
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारैं ना ॥२१॥